❒ श्री राम उवाच–1

आणाए मामगं धम्मं

❒ आचार्यश्री रामलालजी म.सा.

❒ प्रवेश : द्वितीय संस्करण

1100 प्रतियाँ

3 फरवरी 2003

❒ मूल्य : 50 रु.

❒ अर्थ सहयोगी :

आर. रतनलाल रांका, चेन्नई

❒ प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, बीकानेर (राज.)

❒ मुद्रक :

कोस्टल प्रिन्टर्स

चेन्नई-600 079.

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् नक्षत्र एवम् परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म. सा. के पट्ट धर हैं। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने कर कमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की पछेवड़ी प्रदान की थी। आपका प्रथम स्वतन्त्र चातुर्मास निम्बाहेड़ा की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति उसी चातुर्मास के कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संरक्षण महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्र कंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयश प्रज्ञाजी म. सा. ने किया। सम्पादन हेतु मेरे मित्र श्री इन्द्रचन्द बैद ने ख्यातनामा शब्द-शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया। सम्पादित प्रवचनों का समीक्षण कवि रत्न श्री गौतम मुनि जी म.सा. द्वारा सम्पन्न हुआ।

ग्रन्थ-प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता श्री रतनलालजी राँका चेन्नई, का अर्थ सहकार-रूप आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय आत्मीय जनों के भरपूर सहकार से यह भागीरथ कार्य सम्पन्न हो सका। अब द्वितीय संस्कारण आपके हाथों में है। इसका प्रकाशन भी श्री रतनलालजी राँका, चेन्नई ने करवाया है। श्रद्धेय एवम् आत्मीय जनों के प्रशस्त सहकार हेतु मैं अपनी अनेकशः शुभकामनाएं एवं शुभ भावनाएँ संप्रेषित किए बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्य प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवशं यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिये हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

हमें विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्य प्रवर की अमृत वाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

शान्तिलाल सांड

संयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, बीकानेर

अर्थ-सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राँका, चेन्नई/सारोठ

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर स्वर्गीय श्री रोड़मलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। स्व. श्री मेघराजजी रांका के सुपुत्र श्री रोड़मलजी उदार, सरल, धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री है। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमपूर्वक 6-6 सामायिक, स्वाध्याय आपके प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी राँका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चेन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ-साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी आपने अपार यश प्राप्त किया। 'समता भवन', तण्डियारपेट के निर्माण में आपका मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी, श्री पारसमलजी एवं पुत्री श्रीमती नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी हैं एवं सपरिवार चेन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवें पुत्र श्री रतनलालजी राँका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न हैं। आपका धार्मिक-सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ, तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ चेन्नई के मानद मंत्री हैं। अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर के आप न केवल राष्ट्रीय मंत्री एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ चेन्नई के उपाध्यक्ष है वल्कि एक कर्मठ कार्यकर्ता भी हैं। स्थानीय एवं बाहर की

अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। 'आर.आर. प्लास्टिक' आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपर्जन में ही नहीं अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक हैं।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संत सेवा एवं आतिथ्य-सत्कार में सदैव अग्रणी रहती हैं एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती हैं। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है।' आपके दो सुपुत्र- श्री मुकेशकुमार और राकेशकुमार भी अपने पिता के पदचिह्नों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्र वधु सौ. दीपा भी धार्मिक प्रवृति से ओतप्रोत है। आपके दो सुपौत्र- श्री ऋषभकुमार व श्री आदेश्वरराज हैं।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। आदर्श त्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्श त्यागिनि विदुषी साध्वीश्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन हैं।

आपका परिवार स्व. आचार्यश्री नानेश एवं वर्तमान आचार्यश्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्यश्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए सहायतार्थ अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी है। हमें अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के पाँच संग्रह निकल चुके हैं और अब प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण आपके समक्ष है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ...

केशरीचन्द सेठिया

अनुक्रम

1. गुरु-कृपा की महिमा

प्रत्येक जीव स्वतंत्र रहना चाहता है, बंधन किसी को पसंद नहीं परन्तु यह स्वतंत्रता उसे प्राप्त नहीं होती जबकि सिद्ध भगवान आठ कर्मों से मुक्त पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। आखिर ऐसा कैसे होता है? विचार करें कि जो व्यक्ति स्वतंत्रता का इच्छुक होता है क्या वह यह जानता है कि स्वतंत्रता का स्वरूप कैसा होना चाहिये? प्रभु के चरणों में जब संत पहुँचते तो प्रभु यही कहते– 'अहा सुहं देवाणुप्पिया'। प्रभु की यह देशना प्रतिबंधित नहीं करती किन्तु आत्म स्वतंत्रता प्रदान करती है। हम स्वतंत्र बनें पर स्वच्छन्द नहीं और इसी में भारतीय संस्कृति का मूल अन्तर्निहित है।

तनिक इन दोनों शब्दों के अर्थों के अंतर पर विचार करें। 'छंद' का एक अर्थ 'अभिलाषा' है। 'इच्छा और' अभिप्राय भी इसके अर्थ हैं। इस प्रकार स्वच्छंद का भाव स्व-इच्छा अथवा स्व-अभिलाषा के वशीभूत होना हुआ। इसके विपरीत स्वतंत्र का भाव है स्व के तंत्र अर्थात् नियंत्रण में, अर्थात् अपनी आत्मा के नियंत्रण में, उन्मुक्त नहीं। अंग्रेजी में शब्द है इन्डिपेन्डेंट अर्थात् जो किसी पर डिपेंडेंट अथवा निर्भर नहीं है, किसी के नियंत्रण में नहीं है– एक प्रकार से उन्मुक्त है। व्यक्ति भले ही किसी अन्य बाह्य तत्त्व या शक्ति के नियंत्रण या वश में न हो, परन्तु उसे अपने अर्थात् अपनी आत्मा अथवा अपने 'स्व' के नियंत्रण अथवा तंत्र में तो होना ही चाहिये अन्यथा वह स्वच्छंद होकर सम्पूर्ण व्यवस्था और अनुशासन को भंग कर अराजकता फैला देगा। बस, यही अंतर है भारतीय चिन्तन में और पाश्चात्य चिन्तन में। पाश्चात्य संस्कृति किसी भी प्रकार का बंधन स्वीकार नहीं करना आदर्श स्थिति मानती है जबकि भारतीय चिन्तन अनियंत्रण की किसी भी स्थिति की कल्पना भी नहीं करता—'स्व' का नियंत्रण या बंधन तो वह कम से कम मानता ही है। इसीलिये हमारे देश की शब्दावली में स्वतंत्र अथवा 'स्वाधीन'

जैसे शब्द हैं जिनके माध्यम से ही हम अंग्रेजी के 'इंडिपेंडेंट' शब्द का भाव प्रकट करते हैं, 'अनियंत्रण' से नहीं। इसका कारण है– पाश्चात्य संस्कृति आत्मा की खोज कर रही है जबकि भारतीय संस्कृति ने आत्मा को अनुभूत किया है, आत्मसाक्षात्कार किया है। हमने अपनी इस संस्कृति का गौरव कितना समझा है– यह चिन्तन का विषय है।

भारत अहिंसा प्रधान देश है। अहिंसा की सुरक्षा होती है सह-अस्तित्व के सिद्धांत को स्वीकार करने से। इन दोनों के अभाव में प्रदूषण फैलता है। प्रदूषण एक स्थिति है जिसे समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में हम अराजकता की स्थिति अथवा अव्यवस्था को स्थिति कह सकते हैं क्योंकि सामाजिक व्यवस्था अथवा अनुशासन को यही बिगाड़ती है। इसे ही प्रकृति अथवा प्राकृतिक व्यवस्था के अर्थ में हम प्राकृतिक नियमों को भंग करने वाली स्थिति मानते हैं जो जल, पवन, वृक्ष जैसी प्राकृतिक वस्तुओं अथवा सम्पदाओं की व्यवस्था को बिगाड़ती है और मानव के विरुद्ध प्राकृतिक प्रकोप का कारण बनती है। यह प्रकोप भीषण रोगों, भूकम्पों, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारियों आदि के रूप में मानव ही नहीं, प्राणिमात्र के विनाश का कारण बनता है। प्रदूषण किसी भी प्रकार का हो, उसे कैसे रोका जाय इसे जानने से पूर्व इसके उद्‌भव को जानना होगा।

आज व्यक्ति प्रदूषण के बाह्य कारणों को देखता है। जंगलों का कटना, उद्योगों का विस्तार, रासायनिक सामग्रियों का अधिकाधिक प्रयोग आदि को वह इसके लिये जिम्मेदार मानता है जबकि प्रदूषण का मूल मनुष्य की मनोवृत्ति में है। मनुष्य के हृदय में ज्योंही हिंसा की भावना उत्पन्न होती है, सह-अस्तित्व का भाव लुप्त हो जाता है और संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। आज हम पाश्चात्य संस्कृति के कारण परतंत्र बने हुए हैं। भारतीय संस्कृति 'सत्यं शिवं सुन्दरं' में विश्वास करती है। इसका मूल है– सत्य। सत्य ही यदि सुरक्षित नहीं रहे तो शिव और सुन्दर

की तो बात ही नहीं की जा सकती है। इसीलिए सत्य को प्राथमिकता दी गयी है। परन्तु स्थिति क्या है, इसे समझें। हमें अंग्रेजी राज्य से स्वतन्त्रता तो मिल चुकी है पर खान-पान, रहन-सहन पर आज भी अंग्रेजी संस्कृति हावी है। हम भारतीय संस्कृति के उदात्त भावों को भूलते जा रहे हैं। बच्चों का अध्ययन इंगलिश मीडियम संस्थाओं में करवाते हैं जहां चारित्र-निर्माण के संस्कार मिल ही नहीं पाते। उपयुक्त संस्कारों के अभाव में संस्कृति की रक्षा कैसे हो सकती है ? भारतीय संस्कृति में जीने के लिए वैभाविक परिणामों, ईर्ष्या, डाह, विग्रह आदि के प्रदूषण को हटाना होगा। आज विग्रह की– अलगाव की, बातें क्यों हो रही हैं? विग्रह के मूलभूत कारण हैं– महत्त्वाकांक्षा, असहिष्णुता और आगम वाणी के अध्ययन का अभाव। जब व्यक्ति की किसी आकांक्षा की पूर्ति नहीं हो पाती है तब वह विग्रह की राह पकड़ लेता है। पद-लिप्सा और यशोलिप्सा जैसी आकांक्षाएँ पहले जहाँ सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में ही पाई जाती थीं वे आज धार्मिक क्षेत्र में भी पनपने लगी हैं जबकि आगमवाणी के अध्ययन के प्रति रुझान घटता जा रहा है। संत जीवन भी पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन का जीवन बनता जा रहा है। उन्हें भी पढ़ने के लिये पत्रिकाएं चाहिये जबकि स्थिति यह है कि आज की पत्रकारिता राजनीतिक हथकण्डों, हिंसा, अलगाव, लिप्सा और अपसंस्कृति के विकास में योग देकर वैचारिक प्रदूषण फैलाने की ही भूमिका का निर्वाह कर रही है। उसे चारित्र-निर्माण की बातों पर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं है। अखबार भी व्यवसाय का क्षेत्र बन गये हैं, उनका उद्देश्य प्रतिष्ठित होने का है। अखबार, समाचार व प्रसारण माध्यमों का आज जैसा उपयोग हो रहा है वह व्यापारिक क्षेत्र की दृष्टि से कुछ उपयोगी भले ही हो पर धार्मिकता और सुसंस्कारों के निर्माण की दृष्टि से वे उपयोगी नहीं। हमारी मानसिकता व संस्कारों को वे क्षत-विक्षत ही करते हैं। धार्मिक संस्कारों के निर्माण में आगम ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यही स्थिति आगमीय साहित्य की है।

हम जैसा साहित्य पढ़ेंगे वैसी भाषा और वैसे ही संस्कार हमारे भीतर उत्पन्न होंगे। आज आगम का अध्ययन कम होने से ही अलगाव की स्थितियाँ बन रही हैं। व्यक्ति को मंच चाहिये, लीडरशिप चाहिये, यह भावना प्रदूषण का परिणाम है। इस समस्या के समाधान हेतु हमें अन्तर्मुखी बनना होगा। स्वामी विवेकानन्द अध्ययन में तल्लीन थे। एक अंग्रेज उनके पास पहुंचा। उसके आध्यात्मिक जटिल प्रश्नों का समाधान देकर स्वामीजी ने उसे संतुष्ट कर दिया। अंग्रेज कहने लगा– 'आपकी विद्धत्ता पर आश्चर्यचकित हूँ और आपके सम्मुख श्रद्धावनत हूँ। आप जब इतने प्रतिभासम्पन्न हैं तो आपके गुरु कैसे होंगे? मैं आपके गुरु के दर्शन करना चाहता हूँ।' स्वामीजी के संकेतानुसार वह आश्रम में पहुँचा जहाँ उसने एक ऐसे व्यक्ति को देखा जिसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी और कपड़े अस्त-व्यस्त थे। वह सोचने लगा– यह कोई नौकर या पुजारी होगा। आगे बढ़ा, सारे आश्रम में घूम आया परन्तु अन्य कोई व्यक्ति न मिला। इतने में दृष्टि पड़ी, देखा– उस दाढ़ी वाले अधेड़ को स्वामीजी प्रणाम कर रहे थे। अंग्रेज ने विस्मित होते हुए पूछा– 'क्या ये ही आपके गुरु हैं?' स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा– 'भारतीय व पाश्चात्य संस्कृति में यही अंतर है। तुम बाह्य चाक-चक्य देखते हो। हम अन्तर्द्रष्टा हैं। ये मेरे गुरु परमहंस हैं। इनके अन्तर्चक्षु खुले हुए हैं।'

'गुरूणां आज्ञा अविचारणीया', गुरु आज्ञा को अविचारणीय कहा गया है। शरीर व क्षेत्र की दृष्टि से जरूर मैं आचार्य भगवन (श्री नानेश) से दूर (निम्बाहेड़ा) हूँ पर वस्तुतः मैं दूर नहीं हूँ क्योंकि चूंकि आचार्य भगवन मेरे घट में मौजूद हैं। मैं इसकी अनुभूति कर रहा हूँ। गुरु भगवान् की तरह सर्वत्र और सर्वदा उपस्थित रहता है। क्षेत्र और काल गुरु और आराधक के बीच व्यवधान उत्पन्न नहीं कर सकते।

गुरुनिष्ठा बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आज इसका व्यापक रूप से अभाव दिखाई देता है। यह स्थिति बड़ी सीमा तक आध्यात्मिक-

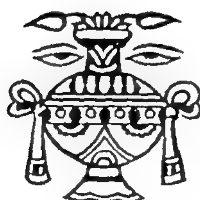
वैचारिक क्षेत्र में प्रदूषण उत्पन्न करने के लिये जिम्मेदार है। आध्यात्मिक-वैचारिक क्षेत्रों में प्रदूषण धार्मिक क्षेत्र को प्रदूषित करता है। गुरुनिष्ठा इससे प्रभावित होती है ज्ञात रहे कि गुरु की महिमा अपरम्पार है, उसे तो भगवान् से भी बड़ा बताया गया है– 'गुरु गोविन्द दोनों खड़े, का के लागूँ पांय। बलिहारी गुरु देव की, गोविन्द दियो बताय।' इसीलिए कहा गया है– गुरु की कृपा का आश्रय लेकर ज्ञानरूपी सत्य को जानने का प्रयत्न करो। विनम्र भाव से गुरु की सेवा करो जिससे वह तुम्हारे हृदय में पैठे अंधकार को निकाल कर उसमें ज्ञान का प्रकाश भर दे। पद्मपुराण में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है–

सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः।।
गुरु प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः।।

जैसे सूर्य देव जैसे लोक को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार गुरुदेव शिष्यों को उत्तम बुद्धि देकर उनके अंतर्जगत् को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं। हम जानते हैं कि जिस जीवन में से अंधकार निकल जाता है वह पूर्ण शुद्ध तथा प्रदूषण से रहित हो जाता है– वह व्यक्ति परिवार, समाज और मानव मात्र के प्रति सम्यक् व्यवहार करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। गुरु द्वारा प्रदत्त सम्यक् ज्ञान उसके चित्त में सम्यक् चिन्तन की धारा प्रवाहित कर देता है। यह धारा पुण्यसलिला गंगा के समान सभी कल्मष दूर कर जीवन प्रवाह को अनुशासित कर देती है। इसीलिये गुरु नानक ने कहा था 'हमने तो यही समझा है कि गुरु के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती।' स्वामी रामतीर्थ तो मानते थे कि मनुष्य चाहे कितना भी तप-जप करे, यम-नियमों का पालन करे, परन्तु जब तक गुरु की कृपा दृष्टि नहीं मिलती, तब तक सब व्यर्थ है।

तब एक बात समझ लेने की है– सामाजिक जीवन से यदि प्रदूषण समाप्त हो जाता है तो निश्चित रूप से धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्रों से भी उसका सफाया हो जायेगा। और यदि ये क्षेत्र प्रदूषण

मुक्त हुए तो प्राकृतिक प्रदूषण के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रह जायेगी क्योंकि सम्यक् जीवन का निर्वाह करने वाला किसी भी प्रकार की सम्पदा, चाहे वह प्राकृतिक ही क्यों न हो, दुरुपयोग नहीं करेगा। आज जो वैचारिक शून्य उत्पन्न हो गया है वही उन सभी समस्याओं के मूल में है, जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा स्वास्थ्य संबंधी क्षेत्रों में दृष्टिगत होती हैं। गुरु का नियंत्रण, गुरुवाणी का श्रवण और गुरु का सान्निध्य जिस मनोवैज्ञानिक स्थिति का निर्माण करेंगे उसमें स्वतंत्रता का वह भाव रूप-ग्रहण कर सकेगा जो प्रत्येक प्राणी की स्वतंत्रता की रक्षा करता हुआ उसे ऐसे संतुलित-सापेक्ष संबंधों से जोड़ देगा जिनमें स्वतंत्रता और पराधीनता शब्द स्वयं ही बेमानी हो जायेंगे। ऐसी स्थिति का निर्माण हम गुरु-कृपा से करें, यह आज की प्राथमिक आवश्यकता है।



2. प्रभु से प्रीत

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहुँ रे कंत।।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनन्त-ऋषभ....

प्रार्थना की ये पंक्तियां कवि आनंदघनजी की अनन्य भक्ति का उदाहरण हैं। प्रथम जिनेश्वर आदिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए भक्ति रस में वे स्वयं को इतना सराबोर कर लेते हैं कि उनके सामने ऋषभ जिनेश्वर के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं रह जाता है। ऐसी भक्ति वैसी ही तन्मयता का एक रूप होती है जैसी धनुर्विद्या की परीक्षा के समय अर्जुन के हृदय में उत्पन्न हुई थी। अर्जुन के सम्मुख उस समय और कुछ नहीं, केवल आँख का ही लक्ष्य था और उस लक्ष्य के प्रति वे सर्वात्मना केन्द्रित हो गये थे। कवि आनंदघनजी ने परमात्मा को प्रीतम माना है। जबकि वे स्वयं पुरुष थे। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पति-पत्नी का संबंध दो पुरुषों के बीच कैसे हो सकता है? उसके लिए एक का स्त्री और दूसरे का पुरुष होना आवश्यक है। ऋषभ जिनेश्वर को जो उन्होंने अपना पति कहा है, स्वामी कहा है, वह कथन उनकी श्रद्धा रूपी चेतना का है। वह बात कवि आनंदघनजी का शरीर नहीं बोल रहा है, उनकी चेतना बोल रही है। चेतना स्त्रीवाची शब्द है, इस अर्थ में ऋषभ जिनेश्वर को पति मानना गलत भी नहीं है।

इस स्थिति को एक अन्य कोण से देखें। आनन्दघनजी प्रेम संबंध की शाश्वतता चाहते हैं। परमात्मा से यदि संबंध जुड़ जाये तो वह शाश्वत हो सकता है। सामान्य व्यवहार में भी पुरुष को स्वामी माना जाता है और शक्ति के स्रोत रूप में उसे ही स्त्री की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है। इस स्थिति में शाश्वत शक्ति को स्वामी मानना अनुचित भी नहीं है। हम जानते हैं कि सांसारिक वस्तुएँ शाश्वत नहीं हैं। संसार में किसी के भी साथ संबंध जोड़ा

जाये तो वह स्थायी नहीं रहता है। शरीर के साथ यदि प्रेम हो भी तो मरने वाले के साथ मरा नहीं जा सकता है। कुछ रूढ़ियों का पालन भले ही कर लिया जाय परन्तु मरने वाले के पीछे कब तक बैठा रहा जा सकता है? किसी के साथ जब प्रेम किया जाता है तो वह कब तक निभाया जा सकता है? आनंदघनजी सोचते हैं–

ऋषभदेव भगवान के साथ यदि मेरा संबंध जुड़ जाता है (यहाँ ऋषभदेव के विषय में जो कहा है वह सभी चौबीसों तीर्थंकर देवों के संबंध में समझा जाना चाहिये), उनके साथ गाढ़ प्रीति जुड़ जाती है, तो आत्मा का सम्यक्त्व के साथ संबंध भी जुड़ जायेगा।

इस प्रकार का उनका चिन्तन सही है क्योंकि हम जानते हैं कि वह परम निर्मल सम्यक्त्व हमें परमात्म रूप में परिवर्तित कर देता है।

बात संबंधों की चल पड़ी है इसलिये यह भी समझ लेना आवश्यक है कि उनके कितने प्रकार के अंग बनते है। शास्त्रीय दृष्टि से ये अंग चार प्रकार के बनते हैं–

1. **अनादि अनंत**– ऐसा संबंध, जो अनादिकाल से जुड़ा है और अनंतकाल तक जुड़ा रहेगा। सिद्ध भगवंतों के साथ अनादि-अनंत संबंध नहीं हो सकता है क्योंकि वे सिद्ध क्षेत्र में चले गए होते हैं जबकि हम संसारी होते हैं। अनादि से अनंत तक चलने वाला यह संबंध किनमें संभव हो सकता है, यह देखना भी आवश्यक है। शास्त्रीय भाषा में जिन्हें अभवी कहा गया है, वे अनादिकाल से संसार में हैं और अनंतकाल तक रहेंगे क्योंकि वे मुक्ति गमन की योग्यता नहीं रखते। उनका राग-द्वेष के साथ अनादि-अनंत संबंध रहता है।

2. **अनादि सांत भंग**– अभी हम अनादिकाल से कर्म बंध से जुड़े हैं और इनके चक्कर में पड़े हैं। यद्यपि हम जन्म-मरण की क्रिया से जुड़े हैं पर एक न एक दिन इसका अंत होगा। जब विशेष पुरुषार्थ से हम इन कर्मों को निःशेष कर देंगे तब वे कर्म

शांत हो जायेंगे और नष्ट हो जायेंगे।

3. सादि अनंत– जिन संबंधों की आदि है पर अंत नहीं, ऐसे संबंधों का प्रारंभ है किन्तु अन्त नहीं है। प्रभु महावीर ने जब अपने सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर दिया तब वे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। इसमें सिद्धत्व आदि है। वहाँ से पुनरा गमन नहीं होने से वह अवस्था उपर्यवसित अनन्त है।

4. सादि सांत अवस्था– यदि कोई आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त कर ले उसमें कुछ समय के लिए सम्यक्त्व रहे परन्तु कुछ समय बाद वह वापस चला जाये तो वह सादि-सांत अवस्था होगी। इसमें आदि भी है और अंत भी है। इसलिये इसे 'सादि सांत भंग' कहा जाता है। एक बार जिन आत्मिक गुणों को प्राप्त कर लिया जाये वे नष्ट भी हो सकते हैं पर आनंदघनजी ऋषभदेव के साथ ऐसे संबंध की आकांक्षा नहीं कर रहे हैं। वे स्थायी संबंध के इच्छुक हैं और उन्होंने अपने उद्‌गार इसी रूप में व्यक्त किए हैं। उन्होंने केवल अंधविश्वास से आदिनाथ से संबंध नहीं जोड़ा है, वे श्रेय मार्ग की ओर बढ़ने वाले हैं। वे चिंतन करते हैं। ये राग-द्वेष तो आत्मा को गिराने वाले हैं, हेय हैं– छोड़ने योग्य हैं। ये संसार में रोकने वाले हैं। राग एकान्त रूप से संसार में रोकने वाला ही नहीं है लेकिन वह एक अपेक्षा से दसवें गुण स्थान तक ले जाने वाला भी है। गौतम स्वामी का प्रभु महावीर के प्रति अपार अनुराग था।

राग भी एक सीमा तक आत्मा को ऊपर उठाने वाला हो सकता है। देव, गुरु और धर्म के प्रति इतना गहरा अनुराग होना चाहिये कि वह रक्त और मज्जा में गहरा समा जाये। चमड़ी, चमड़ी के मांस व रक्त, गहरे में हड्डी और उसके अन्दर मज्जा के रूप में रहने वाले तरल पदार्थ में समा जाय। मज्जा कम पड़ने से हड्डियों में कमजोरी आ जाती है– बुढ़ापा आ जाता है। हड्डियाँ इतनी मजबूत होनी चाहिये कि कई झटके सहन करके भी एकाएक नहीं टूटें।

इसी प्रकार अनुराग भी इतना गहरा होना चाहिये कि वह मज्जा तक पहुँच जाय क्योंकि यदि भीतरी भाग तक श्रद्धा पहुँच जायेगी तो ऊपर कितने ही आंधी- तूफान आयें, वह ध्वस्त नहीं हो सकेगी। ऐसी श्रद्धा अटूट और अविचल रहेगी, और ऐसा ही अनुराग स्थायी होगा।

यही बात आनंदघनजी ने भी कही है। अन्य सभी देवों के साथ भी संबंध बने, अन्य धर्मों का अध्ययन भी किया पर उनका मन वहाँ भरा नहीं। सभी अपनी-अपनी बात करते दीखे। उन्होंने सोचा– स्वयं मोह माया से जुड़े हैं, वे मेरी आत्मा को ऊपर कैसे उठा पायेंगे? मुझे तो ऐसा कोई व्यक्तित्व दिखाई नहीं देता है जो मेरी आत्मा के उत्थान में सहायक हो। ऐसी शक्ति सिर्फ आदिनाथ भगवान में ही है, मानतुंग आचार्य ने भी भक्तामर स्तोत्र में कहा है–

दृष्ट्वा भवंत मनिमेष विलोकनीयं,।
नान्यत्र तोषमुपयाति जनक्स्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शंशिकव घुति दुग्ध सिंधो,।
क्षारं जलं जलनिर्धरशितुं क इच्छेत्।।

प्रभो आपकी एक झलक यदि मेरे भीतर उतर जाये तो उसके बाद अन्य कोई आकांक्षा नहीं रह जायेगी। जब तक व्यक्ति सांसारिक कार्यों में लिप्त रहता है वह ऊपरी तौर पर ही साधना करता है पर कवि आन्तरिक संबंधों की अपेक्षा लेकर प्रभु से प्रार्थना कर रहा है।

आत्मा यदि परमात्मा के साथ अपना संबंध जोड़ लेती है तो सादि अनंत भंग की स्थिति बन सकती है। यही स्थिति स्पृहणीय है।

3. अजनबी से मिलन

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहुँ रे कंत,
रीझयो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनन्त–ऋषभ.

प्रार्थना की ये पंक्तियां प्रियतम रूप ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। साहब का संग मिल जाये तो फिर कोई और कामना शेष नहीं रह जाती। वह पूर्ण अपूर्ण को पूर्ण कर उसे अपना अंग बना लेता है इसलिये भक्त की यह कामना रहती है कि वह साहब रीझ जाये और कभी संग न छोड़े।

अपने आराध्य में प्रिय भी छवि देखने की यह भावना साधना मार्ग का एक अनोखा सत्य है। प्रिय और प्रिया का संबंध सांसारिक दृष्टि से मधुरतम संबंध के रूप में स्वीकृत है। मीरा यदि अपने प्रियतम को रिझाने के लिये पैरों में घुंघरू बाँध कर नाचते हुए गा सकती थी– 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई। जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई' तो निर्गुण संत कबीर भी कह सकते थे– 'हरि मेरो पिऊ मैं राम की बहुरिया'। संबंधों की गहनता के इसी भाव की तीर्थंकर देव के संदर्भ में प्रार्थना की उपर्युक्त पंक्तियों में कामना की गई है।

जब जिनेश्वर देव से कभी संग न छोड़ने की प्रार्थना की जाती है तब आशय क्या होता है? पहले विचारें कि प्रार्थना का क्या अर्थ होता है ? प्रार्थना का अर्थ होता है 'याचना/मांगना'। पर तीर्थंकरों की प्रार्थना इस भावना से की जाय तो सैद्धांतिक दृष्टि से प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वीतराग प्रभु न प्रसन्न होते हैं और न ही नाराज– फिर याचना क्यों? सिद्ध भगवान कोई मंत्र या कोई पदार्थ देने वाले नहीं है तब उनसे कुछ भी माँगने का औचित्य क्या? यहीं प्रार्थना के दूसरे रूप स्तुति पर विचार करने की आवश्यकता पड़ती है। 'स्तुति' है महापुरुषों का गुणानुवाद

और याचना के स्वर भी आत्म सम्बोधन के रूप में ही मुखरित होते हैं। भगवान् मुक्ति नहीं देंगे और न ही देते हैं। गणधर गौतम से प्रभु कह रहे हैं 'ण हु जिणे अज्ज दीसइ' अर्थात् आज तू 'जिन' को नहीं देख रहा है। जिन को देखने के लिए अपने भीतर भी वैसा ही प्रकाश पैदा करना होगा। निमित्त कोई भी बन सकता है पर उपादान तो स्वयं का ही अपेक्षित होगा। उपादान के अभाव में प्रकाश नहीं मिल पायेगा। दीपक में तेल और बाती को जलना होगा तभी प्रकाश मिलेगा। पर आज हमारी अवस्था विचित्र है हम अनादिकाल से अंधकार के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि प्रकाश एकाएक मिल भी जाये तो हमारी आँखें चौंधिया जायेंगी। पूर्ण अंधकार के माहौल से बाहर आने पर प्रकाश से सम्मुख होते ही एक बार आँखें बंद हो जाती हैं। इस दृष्टि से प्रकाश एक नयी तथा अजनबी वस्तु है। सहसा इस नयी अथवा अजनबी वस्तु पर विश्वास नहीं होता है। अजनबी से मिलने पर हम भयभीत अथवा शंकित हो जाते हैं। एक परिवार में भले ही दस सदस्य हैं पर वे अजनबी को सहसा शरण नहीं देते। भय से हटाकर प्रभु ने हमें अभय की ओर प्रेरित किया है तब हम अजनबी प्रकाश को अजनबी मानकर उससे भागने की कोशिश न करें वरन् प्रकाश पाने हेतु क्रांति करें। इस क्रांति का उद्देश्य होगा विषय कषाय के प्रवाह से प्रतिस्रोतगामी बनना।

युग बदलने की उनकी परिभाषा है– आचार-विचार में परिवर्तन होना। यदि कहें कि आज हिंसा, चोरी, डाके खूब हो रहे हैं, सुना होगा कालशौकरिक कसाई कितने भैंसे या पाड़े मारता था? रोहिणिया अपने युग का एक कुख्यात चोर था। आज के चोर के तो पैर भी कच्चे हैं। पर उसने तो सबके नाकों दम कर रखा था। ये अवस्थाएँ तो सृष्टि के साथ सदा बनी रही हैं और आज भी है पर आज सदाचरण की कमी हो रही है। हम प्रतिस्रोतगामी बनें तो कुछ उपलब्धि हो सकती है। प्रत्येक धर्म दुहाई देता है 'मनुष्य जन्म दुर्लभ है'। व्यक्ति कहता है भौतिक

सम्पत्ति दुर्लभ है किन्तु सम्पत्ति पर तो सर्प भी कुण्डली मार कर अपना स्वामित्व दिखलाता है। कवि ने कहा है–

'नर तेरा चोला–रतन अमोला विरथा खोए मति ना......।।'

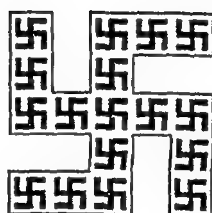
पर हमने रत्न की कीमत कितनी की? इस हंस के रहते जो कुछ कर लिया जाय, वही सार्थक होगा।

'या या क्रिया सा सा फलवती।'

मन में बुरी भावना चल रही हो तो संवर– निर्जरा की क्रियाएं भी सफल नहीं होती। जब तक पीपे में घासलेट की बू आ रही है उसमें कितना ही घी क्यों न भर दिया जाये, वह उपयोगी न होगा। सिर्फ मेरे कथन मात्र से मत मानो। गहराई से चिंतन करो और उसके बाद क्रिया करो। सभी आत्माओं को आत्मवत् देखना अध्यात्म है। मैंने जो कहा और आपने मान लिया और जरा गहराई से चिन्तन किया तो जान लिया यह धर्म है पर जानने के बाद भी जब तक देखोगे नहीं, क्रिया रूप प्रतिफलन नहीं हो पाएगा। अनादि काल से चले आ रहे विषय-संस्कारों ने हमारी आत्मा को मलिन कर दिया है। यह मलिनता ही अंधकार बनकर हमारे जीवन में छा गई है। इसे दूर करना है वह प्रकाना से ही संभव है। उस तमोहारी प्रकाश को प्रभु कृपा और संत-महात्माओं के आशीर्वाद से प्राप्त किया जा सकता है। जब वह प्राप्त हो जाता है तब माया, मोह, लोभ आदि से छुटकारा मिल जाता है और प्रभु में लीन होने की अवस्था प्राप्त हो जाती है। तब वह स्थिति वनती है जिसे संतों ने इस प्रकार वर्णित किया है– 'फूटा कुंभ जल जलहिं समाना'। इसे चाहे हम प्रियतम और प्रियतमा के रूपक में ढालें चाहे चकवी-चकवा के या चातक और स़्वाति बूंद से संबंधित तुलसी के इस दोहे में–

उपल बरसि, गरजत तड़ित, डालत कुलिश कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर।।

प्रेम के इस आदर्श को जिनेश्वर देव के प्रति चरितार्थ करने की आवश्यकता है क्योंकि यदि उन्हें रिझा लिया जाये तो फिर जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिये कोई और उपक्रम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।



4. साधु की परख

पंथड़ो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम, ।
जे ते जीत्या रें ते मुझ जीतियो रे, पुरुष किश्युं मुझ नाम? पंथड़ो...

हे प्रभो, मैं उस पंथ को निहार रहा हूँ जो आप तक पहुँचाने वाला है, अनन्त तीर्थंकरों तक पहुँचाने वाला है। अनन्त तीर्थंकरों तक पहुँचाने वाला मार्ग कैसा है? अजितनाथ भगवान का धाम कैसा है? कवि ने कहा है–'अजित अजित गुण धाम' दुनिया के प्राणियों द्वारा न जीते हुए सद्‌गुणों के धाम हैं प्रभु अजितनाथ।

ऐसे गुण कौन-से हैं और वह मार्ग कौन-सा है जो उन तक ले जाता है? सांसारिक सत्य यह है कि व्यक्ति अपने गन्तव्य के अनुरूप मार्ग का निर्धारण करके गमन करता है। विपरीत पथ से मंजिल नहीं मिल सकती। तब उन गुणों और उस मार्ग पर विचार करें जो निर्दिष्ट गन्तव्य तक ले जाता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है '**सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः**' अर्थात् सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष मार्ग है और यही मुक्ति धाम तक पहुँचाने वाला भी। भगवती सूत्र में तीन प्रकार की आराधना कही गई है—ज्ञान आराधना, दर्शन आराधना और चारित्र आराधना। यदि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति कर ली गयी पर उनके उपयोग की चिन्ता न की गई तब? कल्पना करें कि एक व्यक्ति करोड़ों की सम्पत्ति का मालिक है, पर धन को उसने तिजोरी में बंद कर रखा है या जमीन में गाड़ रखा है या बैंक में जमा कर रखा है, तो उस सम्पत्ति की क्या सार्थकता? युगद्रष्टा, युगस्रष्टा, युगपुरुष ज्योतिर्धर जवाहराचार्य के शब्दों में वह सम्पत्ति का स्वामी नहीं, दास है। यदि चारित्र को स्वीकार कर केवल आलस्य और प्रमाद में क्षण जा रहे हैं, तो वह आराधना नहीं, विराधना का स्वरूप बन जायेगा। केवल पोशाक ही साधु

जीवन नहीं है, पोशाक तो केवल लोक के प्रयोजन से है। वक्र जड़ साधकों के लिए श्वेत पोशाक का निर्धारण किया गया है। साधना तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की करनी है। आचार्यदेव श्री श्रीलालजी म. सा. से एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था– हम आगम पढ़ने के इच्छुक हैं पर इतनी योग्यता हममें नहीं है कि हम उन्हें समझ सकें, फिर हम कैसे जानें कि यह साधक सही गतिविधि कर रहा है या नहीं ? वैसे भी साधु को वंदन करने से सम्यक्त्व की पुष्टि होती है जबकि असाधु को वंदन मिथ्यात्व का कारण बनता है। तब कृपया समझाइये कि सच्चे संत की पहिचान क्या है?

आचार्य देव ने इसका अत्यंत सटीक समाधान दिया। उन्होंने कहा–

ईर्या, भाषा, एषणा, ओळख और आचार।।
गुणवन्त गुरु देखने, बन्दौं बारम्बार।।

गुरु अथवा सच्चे संत की इस पहिचान पर तनिक विस्तार से विचार करें।

ईर्या शोधन अर्थात् गमनागमन की प्रक्रिया, चरणों की गति और चलने के ढंग को देख कर संत की चरण-चर्या का पता चलाता है। यह चलना कैसा हो अथवा कैसे चलें, इस संबंध में कहा गया है 'जयं चरे' अर्थात् यत्नपूर्वक चले जिससे पापकर्म का बंध न हो। चरणों की गति ही व्यक्ति के जीवनक्रम का अनुमान करा देती है। 'चरणं' शब्द ही इसका अर्थ प्रकट कर देता है– चर+ण, 'ण' निषेध का वाचक है, चर चलने का। इस प्रकार चरण चरित्र का दर्पण भी है। हम जानते हैं कि क्रोध अथवा आवेग में व्यक्ति के चरण संतुलित नहीं पड़ते, न भूमि पर उनका संघात ही सम होता है।

संत की भाषा उसकी प्रकृति को प्रकट कर देती है। कहते भी हैं कि किसी व्यक्ति से पाँच मिनट बात कर लीजिये, उसका सम्पूर्ण चरित्र उद्घाटित हो जायेगा। वाणी का उतार-चढ़ाव, स्वर

का आरोह-अवरोह, कथन की यति-गति, शब्दों का चयन उसके चरित्र, प्रकृति और संस्कार– तीनों को प्रकट कर देते हैं। व्यक्ति की मौन अवस्था में इनमें से किसी का भी पता चलना कठिन है।

गुरु की पहिचान की तीसरी कसौटी है– 'एषणा'। आहार, वस्त्र, पात्र, अध्ययन सामग्री जैसी जीवनयात्रा में सहायक वस्तुओं की गवेषणा यह ज्ञापित कर देती हैं कि सांसारिक वस्तुओं में उसकी कितनी और कैसी रुचि है और वह स्वाध्याय, तप अथवा अनासक्त योग के सागर में गहरा उतरा है या चंचल लहरों पर ऊपर ही तैर रहा है।

ओळख और आचार की बात तो बहुत सीधी है– गुरु की रुचियों और कार्यों का निरीक्षण कर तथा दैनंदिन जीवन में उसके आचार को देख कर गुणवंत गुरु की पहिचान की जा सकती है।

व्यवहार में स्खलन की घटनाएँ होती रहती हैं जिनके अनेक रूप हो सकते हैं। मैं एक घटना का उल्लेख कर रहा हूँ। बात कुछ अर्से पूर्व की है– लगभग 45 वर्ष पूर्व की, तब श्रमण संघ बना ही था, अनेक सम्प्रदायों का एकीकरण हुआ था।

आचार्यश्री गणेशीलालजी को संघ-संचालन का संपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपा गया था। कुछ संतों का चातुर्मास उदयपुर में शानदार ढंग से सम्पन्न हुआ। चूंकि जनता अपनी दृष्टि से मूल्यांकन करती है इसलिये चातुर्मास में वह उमड़ पड़ी। फिर विहार का प्रसंग बना। संत बाहर निकले। एक आदर्श श्रावक कंधे पर शाल डाले हुए थे, पहुँचे, निवेदन किया, 'अन्नदाता आवश्यकता हो तो.......।' संत ने शाल उठा ली और अपने कंधों पर डालकर रवाना हो गए। श्रावकजी जानकार थे, विचार किया– कोई गवेषणा नहीं की– क्यों लाई गई आदि ? यह शैथिल्य साधुत्व की जड़ को खोखला करेगा। बाजार में भी चर्चा चली। कई व्यक्ति कहने लगे– अरे महाराज तो हमारी दुकान से पूरा थान ले गए, लौटाया

तक नहीं। एक नहीं, कई थान गायब थे। श्रावक मिलकर संतों के पास पहुँचे। पूछा– 'हमारे थान आपने लौटाये नहीं– आपको सिर्फ 72 (बहत्तर) हाथ ही वस्त्र रखना कल्पता है– शेष कपड़ा कहां है?' संत ने क़हा– 'पाली में वृद्ध संतों के लिए जरूरत थी, भेज दिया।' एषणा शुद्ध नहीं थी, बात पकड़ में आ गयी। ऐसी घटनाओं के बारे में आप क्या कहेंगे? भले ही उनका संबंध छुट-पुट संतों से ही होता हो परन्तु वातावरण तो बिगड़ता ही है, संतों की प्रतिष्ठा प्रभावित होती है। सम्यक् ज्ञान के अभाव में चिन्तन भी सम्यक् नहीं रह सकता। इन दोनों का सीधा असर व्यवहार पर पड़ता है जो सबकी नज़रों में आ जाता है।

स्व. गुरुदेव पूज्य गणेशाचार्य भी फरमाया करते थे– खा-पी कर प्रमाद करना साधक जीवन के लिए उचित नहीं है–

गृहस्थी केरा टुकड़ा, लम्बा लम्बा दांत।।
भजन करे तो उबरे, नहीं तो काढे आंत।।

गृहस्थ का आहार साधना में हेतुभूत है। छः कारणों से आहार करके साधु रत्नत्रय की आराधना करे तो अमृत– नहीं तो विष में परिणमन होगा। पोशाक स्वर्ग या मोक्ष में नहीं ले जावेगी। इसीलिये ज्ञानी जन कहते हैं कि कर्म बहुत सोच-विचार कर करने चाहिये क्योंकि उनके परिणाम से बचा नहीं जा सकेगा। कोई यह सोचे कि भगवान से प्रार्थना कर लेंगे, वह कर्मों के फल से बचा देगा या ढील दे देगा, तो यह संभव नहीं है क्योंकि जब तीर्थंकर प्रभु को भी इन कर्मों ने माफ नहीं किया तब हमारी तो बिसात ही क्या है? कर्म करते शर्म नहीं आयी तो फिर कर्म को भी फल देते शर्म नहीं आयेगी। प्रभु ने इन्हें जीत लिया था, हमें भी इन्हें जीतना है और उसी के लिए पुरुषार्थ का पथ अपनाएं तो अवश्य ही मंजिल मिलेगी। अवसर मिला है धाम तक पहुँचने का इसलिये पुरुषार्थ करना है। साधु अपनी तरह से साधना करता है, आप भी अपनी सामर्थ्य के अनुरूप जुट ज़ाइये। आप पारिवारिक मोह

का यदि पूर्ण त्याग नहीं कर सकते तो भी आंशिक साधना से पीछे क्यों रहें? मंजिल एक है। वचन व्यवहार विवेकपूर्वक हो। श्रावक के आठ वचन-व्यवहार हैं। श्रावक थोड़ा बोले, मीठा बोले,......अन्यथा वचन के पलिमंथु दोषी (शत्रु) बन जायेंगे। मैं एक उदाहरण दे रहा हूँ।

उदयपुर के महाराणा ने भव्य भवन बनाया– दीवानजी को साथ में लेकर भवन दिखाने लगे। लोगों ने कानाफूसी की—दीवानजी ने प्रशंसा के दो शब्द भी नहीं कहे। महाराणा ने पूछा, 'क्या बात है दीवानजी, आपको महल पसंद नहीं आया?' दीवानजी ने कहा– 'यह तो आप जैसे ही बनवा सकते हैं'। बात एक थी– अर्थ अपने-अपने ढंग से निकलते हैं। राजा ने सोचा– भला राजा के सिवाय और किसमें इतनी सामर्थ्य है और दीवानजी सोच रहे थे– इतनी आरंभ- समारंभ की प्रवृत्ति में और कौन लग सकता है ? हम भी अनावश्यक अनुमोदना में न पड़े। आत्मिक गुणों पर विजय प्राप्त कर प्रभु के धाम को पाने की दिशा में गतिशील बनें। संतों के गुणों और कर्तव्यों का निश्चय ही महत्त्व है परन्तु श्रावकों के गुणों और कर्तव्यों को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता। दोनों के बीच अन्योन्याश्रित संबंध होते हैं, यह बात अच्छी तरह से समझ ली जानी चाहिये और यह भी कि अंत में दोनों का लक्ष्य एक ही होता है– वह सदा ध्यान में रहे, यह भी आवश्यक है।



5. सच्चे सुख का स्वरूप

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर साधना के उत्कृष्ट सिंहासन पर आरूढ़ हैं। अंतेवासी गौतम श्रीचरणों में विधिवत वंदन कर अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हैं– 'भगवन् ! मैं भिक्षाचर्या, उपधि आदि के लिए परिभ्रमण करता हूँ। ग्राम, नगर, सन्निवेश का प्रत्येक व्यक्ति सुख का कामी है, पर सुखी नहीं है। भंते क्या कारण है?' लगभग 2600 वर्ष पूर्व प्रभु महावीर से किया गया यह प्रश्न आज भी उतना ही प्रासंगिक है। यह प्रश्न तब भले ही गौतम स्वामी ने किया हो परन्तु आज प्रत्येक व्यक्ति यही प्रश्न पूछ रहा है। व्यक्ति का उद्यम सुखार्थ होता है पर परिणाम दुःखरूप में प्राप्त होता है। धनोपार्जन की लालसा में नींद हराम रहती है, चैन से भोजन भी नहीं कर पाता। संग्रह करता है पर सुख नहीं मिलता। यदि परिवार को सुख में हेतुभूत माना जाय तो बड़े परिवार में ढेर सारे सदस्य होते हैं पर वृद्ध की सेवा में कोई भी नहीं होता फिर सुख का स्वरूप क्या हुआ ? वहाँ सुख क्यों नहीं मिलता है ?

प्रभु ने संबोधित किया– 'गौतम ! व्यक्ति के मन में द्वंद्व चलता रहता है। वह एकनिष्ठ नहीं। कामना वह सुख की करता है पर आराधना वह दुःख की करता है।' हम शब्दों का भाव समझने की कोशिश करें। कप में से चाय या दूध ग्रहण करने पर रस की अनुभूति होगी। उसी प्रकार सांठे (गन्ना) के डण्ठल के छोटे-छोटे टुकड़ों को मुंह में रखने से रस नहीं मिलेगा, मिठास की अनुभूति तो चबाने से ही होगी। यथार्थ सुख को हमने पहचाना नहीं और दुःख की आराधना में ही रत हैं। यदि पैसे या संख्या में सुख होता तो सभी अमीर परिवार वाले और बड़े परिवार वाले सुखी होते और फिर 'छोटा परिवार सुखी परिवार 'जैसे नारों का उद्घोष भी नहीं होता। पर छोटा परिवार भी सुखी कहां है? कितनी समस्याओं से ग्रस्त होता है वह। पूर्ण सुख की भावना से जीने वाले विरल

ही मिलेंगे। एक विशाल परिवार की बात करें। एक 90 वर्ष का वृद्ध व्यक्ति परन्तु उसके चेहरे पर रौनक थी, दुःख की शिकन भी नहीं थी, मस्ती का जीवन था और शरीर में गजब की स्फूर्ति थी। एक नौजवान उनके पास पहुँचा, प्रणाम करके कहने लगा– 'मैं आपसे कुछ पूछने को उत्सुक हूँ।' वृद्ध ने कहा– 'हाँ हाँ, बेटे जरूर पूछो।' नौजवान ने कहा– 'आपकी उम्र नब्बे वर्ष है पर आश्चर्य है कि चेहरे पर परेशानी या दुःख का लेश भी नहीं है, आप पूर्ण सुखी हैं। मुझे भी ऐसे सुखी जीवन के सूत्र या उपाय बतलाने की कृपा करें। मुझे भी यह फार्मूला दें दीजिये।'

वृद्ध ने स्नेहभरी वाणी में कहा– 'सिर्फ फार्मूले से काम नहीं चलेगा, उन सूत्रों पर चलना भी होगा। तो सुनो, प्रथम सूत्र है– चिंता मत करो चिंतन करो। चिंता में दुःख है, खोना ही खोना है जबकि चिंतन से पाओगे ही पाओगे। चिंता चिता से बढ़कर है। चिता तो मुर्दे को (मृत कलेवर को) जलाती है पर चिन्ता जीवित को ही जला डालती है। चिंता में निर्णय करने की स्थिति नहीं बनती, डांवाडोल अवस्था बनती है। चिन्तन एक दिग्गामी होगा। चिंता किरायेदार की तरह सहज छूटेगी नहीं अतः उसे आसन जमाने का अवसर ही मत दो। दूसरा उपाय है– चलो-फिरो थको मत–भ्रमण की प्रक्रिया से हमारे शरीर की कोशिकाओं का पूर्ण व्यायाम हो जाता है। तन तन्दुरुस्त तो फिर मन भी तन्दुरुस्त। सौ दवा का काम एक हवा से होता है पर याद रखो– उतना ही चलो जितने से थकान महसूस न हो। सुख के लिए तीसरा उपाय है– खाओ-पीओ छको मत– खाओ कम, चबाओ अधिक। व्यक्ति कहता है समय नहीं है, जल्दी-जल्दी भोजन निगल लेता है। जायकेदार भोजन पेट में फटाफट चला तो जायेगा पर पचेगा नहीं, परिणामस्वरूप यथोचित लाभ नहीं दे पायेगा। एक प्राकृतिक चिकित्सक से मेरी भेंट हुई थी। वे कह रहे थे कि फुलका-साग साथ-साथ नहीं खाना चाहिये। मैंने पूछ लिया– क्यों? साग तो होता ही है फुलके के साथ खाने के लिए। उन्होंने बताया– जब

कोरा फुलका कौर के रूप में मुंह में डालेंगे तो उसे लगातार चबाते रहना पड़ेगा और उसमें लार तो मिलती जायेगी परन्तु वह जल्दी गले के नीचे उतरेगा नहीं। साग के साथ खाने से फुलके को बराबर अधिक चबाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह झट नीचे उतर जाता है और पाचन का सारा काम (श्रम) अंतड़ियों को करना पड़ता है। थोड़ी देर फुलका खाकर बीच में साग खा लिया जाये और फिर कोरा फुलका खाया जाये तो इससे अन्य फायदे भी होंगे। व्यक्ति चार की जगह दो फुलके से ही तृप्त हो जायेगा। आप यह मत सोचियेगा कि वह कमजोर हो जायेगा। भली-भांति पाचन से वह पूरी कैलोरी कम फुलके से ही प्राप्त कर लेगा। अतिरिक्त अन्न जो पूरी तरह पच नहीं पाता, अंतड़ियों में आंव के रूप में इकट्ठा होकर सड़ान पैदा करता है तथा रोगों को उत्पन्न करता है।'

वृद्ध आगे बोला– 'इसके साथ चौथा उपाय भी है, उस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उपदेश कम दो, आचरण में अधिक ढालो– कहा भी है 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' दूसरों को उपदेश आज हम अधिक देते हैं क्योंकि उपदेश देना बहुत सरल है और उपदेश भी हम बहुत शिष्टता व नम्रता से देते हैं-

'परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वेभवंति वै।
विस्मरंतीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते।।'

अतः यह ध्यान रखें कि उपदेश में यदि आचरण का पुट नहीं है तो उसका असर नहीं होगा– कोरा उपदेश सुखी नहीं बनाएगा। कार्यशील बनो। महात्मा गांधी बोलते कम थे, प्रमाद कम करते, स्वयं काम में लगे रहते, कुछ नहीं तो चरखा ही चलाते थे। वाचालता झगड़े की जड़ है। राग-द्वेष की ग्रंथियाँ बनाने वाली है। भाई! इन सुख के उपायों को अमल में लाना होगा।'

वृद्ध ने तो अच्छे स्वास्थ्य और सुख के उपाय बता दिये परन्तु इन पर अमल कितने लोग करते हैं? आज तो प्रवाह विपरीत दिशा

में बहता नजर आ रहा है। जब उपाय भी दुःख के किये जा रहे हैं तब फिर सुख कैसे नसीब हो? भले करोड़ों इकट्ठा कर लो, सुख नहीं मिलेगा क्योंकि संग्रह में सुख नहीं है, सुख है त्याग में।

युगद्रष्टा, युगस्रष्टा ज्योतिर्धर जवाहराचार्य के जीवन की घटना है। दीक्षा के पूर्व दिनों उन्हें जोरों की ठण्ड लगने लगी। रजाई पर रजाई डाल दी गई फिर भी वे कहते रहे, ठण्ड लग रही है। परिजनों ने कहा– कल प्रमाणोपेत वस्त्र होंगे, कैसे करोगे जाबता? परन्तु जब दीक्षा हो गयी और उसी दिन विहार कर गांव के बाहर प्याऊ में पधारना हुआ। ठंड की रात, द्वार रहित मकान, एक चद्दर स्वयं की थी और एक अन्य संत ने ओढ़ा दी। इस प्रकार दो चादर में सो गए। प्रातःकाल परिवारजन दर्शनार्थ आये– पूछा रात कैसी निकली? ठंड लगी? कहने लगे– 'मुझे तो ऐसी नींद आयी कि प्रतिक्रमण के लिए भी मुनि भगवन्तों ने जगाया।' क्या कारण? सारी चिन्ता हट गयी, परिवार का बोझ दूर हुआ और अकिंचन भाव का अपूर्व सुख अनुभूत हुआ। तब स्पष्ट है कि सुख है त्याग में, निस्पृहता में, संतोष में।

मेयर ला गार्डिया एक जज थे। एक बार एक केस आया। एक धनपति के घर चोरी करते हुए व्यक्ति को पकड़ा गया था, उसने दो रोटियां चुराई थीं। जब उससे पूछा गया– क्या तुमने उस मकान में चोरी की? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया– हम चार प्राणी हैं, पूर्ण पुरुषार्थ कर लिया, रोजगार मिला नहीं, घर पर एक दाना नहीं था, बालकों का बिलखना देखा नहीं गया। मैं चोरी के लिए निकला और दो रोटियां चुराई। जज ने न्याय किया– फैसला सुनाते हुए उस पर 10 डालर का जुर्माना किया और वह जुर्माना अपनी जेब से निकाल कर दे दिया और कहा– यह अपराध विवशता में किया गया है जिसके लिये समाज भी उतना ही दोषी है क्योंकि समाज का अपनी अव्यवस्था की ओर ध्यान ही नहीं है। साथ ही, कक्ष में उपस्थित सभी लोगों पर भी उन्होंने आधे-आधे डालर

का जुर्माना किया। उन्होंने स्वीकार किया कि वह व्यक्ति वस्तुतः चोर नहीं था, बच्चों की तड़प ने उसे अकृत्य हेतु मजबूर किया था। लोग यह न्याय देखकर आश्चर्यचकित थे। किसी दार्शनिक ने कहा भी है– 'समाज अपराधों को तैयार करता है और कोई बेचारा मनुष्य उन्हें करता है।' जिस समाज में एक व्यक्ति भी हाथ फैलाकर चलता है वह समाज आदर्श समाज नहीं हो सकता। पुराने श्रावक, परिवार के लिए और समाज के लिए मेढ़ी सदृश होते थे। धर्मराज युधिष्ठिर का नाम आप सभी ने सुना होगा। दुर्योधन उनका दुश्मन बना हुआ था पर जब वह भी उनके पास पहुँचा और पूछा कि मेरी जीत का उपाय क्या है? तब वह निःशस्त्र था। बिना शस्त्र अपने शत्रु के पास पहुँचा। सोचिये, कितना गहरा विश्वास था उस समय नीति में। कौरवों की विजय का तात्पर्य ही था कि पाण्डवों की हार, पर धर्मराज ने उसे सत्य बता दिया।

राजनीति भी धर्मनीति से अनुशासित होती थी। राजगुरु के पद पर आसीन रहने वाले गुरु अपने आश्रयदाता राजाओं को अन्याय से सदा बचाते थे और सत्य का निर्देश देते थे। आज एक राजनेता की सुरक्षा व्यवस्था में गरीब जनता की खून की कमाई के करोड़ों रुपये खर्च कर दिये जाते हैं। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं हो सकता।

तब अव्यवस्था, अनीति, अन्याय और अत्याचार से ग्रस्त इस प्रशासनिक व्यवस्था में सुख कैसे प्राप्त हो? सुख-शांति प्राप्त करने का नुस्खा कोई नया नहीं है, हमारी प्राचीन संस्कृति ने उसे कूट-कूट हमारे दिमागों में भर रखा है– 'गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतन धन खान। जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान।' संतोष का यह धन बाहर कहीं से नहीं लाना पड़ता, वह तो मनुष्य के मन में सद्विचारों से स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। परन्तु खेद का विषय यह है कि आज की इस भौतिकतावादी सभ्यता और उपभोक्तावादी मानसिकता ने 'संतोषी परम् सुखी' की कहावत को भी परम्परावादी पिछड़ी मानसिकता कह कर

तिरस्कृत कर दिया है। आज तो सुख, शांति और संतोष के लिये उपभोग के अधिकतम साधन जुटाने का विचार प्रचलित एवं स्वीकृत हो चुका है। यह तृष्णा है और हम जानते हैं कि एक बार जो तृष्णा के फंदे में पड़ गया उसका उद्धार संभव ही नहीं है। जीवन-स्तर के ऊँचे होने का मापदण्ड ही आज बदल गया है, अब तो सम्पन्नता, वैभव, पद और सत्ता के पीछे दौड़ दीवानगी की सीमा तक पहुँच गई है। आज कोई स्वामी हरिदास निर्विकार भाव से शहंशाह अकबर से नहीं कह सकता 'संतन को कहा सीकरी सों काम ?' वह समय दूसरा ही था जब विश्वविजेता सिकन्दर की ढेरों सम्पदा लेने की प्रार्थना किसी औघड़ संत ने ठुकरा दी थी और बहुत आग्रह करने पर कहा था– 'अच्छा, यदि तू कुछ देना ही चाहता है तो परे हट जा, मेरे ऊपर सीधी धूप आने दे, उसे मत रोक।'

विलासिता की चीजों की इतनी वृद्धि के बाद भी, वैज्ञानिक ज्ञान के इतने विकास के बाद भी और सुख के साधनों की इतनी वृद्धि के बाद भी संसार में अशांति, असंतोष, दुःख, क्लेश, अनीति, अन्याय, पाप आदि यदि बढ़े हैं तो इसका एकमात्र कारण है तृष्णाभाव का बढ़ना और संतोषभाव का घटना। इस स्थिति से छुटकारे का एक ही मार्ग है– अपरिग्रहभाव का विकास, आवश्यकताओं को घटाने की प्रवृत्ति, उपभोगों को सीमित करते जाने की मानसिकता की दिशा में गति। यही तो धर्म कहता है! तब धर्म के अनुसार आचारण करने की आवश्यकता आज कितनी अधिक है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। सच्चे सुख का रहस्य उसी में छिपा है, यह समझ लेने की बात है।



6. अप्रतिम संत : अप्रतिम आचार्य : श्री गणेशाचार्य

साधक अवस्था का स्वरूप बताते हुए आचारांग सूत्र में कहा है– 'जहा अन्तो तहा बहि' अर्थात् अन्तर-बाह्य जीवन में एकरूपता हो। एकरूपता के अभाव में अन्तर भीगेगा नहीं अतः प्रगति का पथ भी प्रशस्त नहीं होगा। साधना के बीहड़ पथ में साधक के लिये मार्ग बनाना कठिन होता है। अपरिचित राही जब वन मार्ग से गमन करता है तब उसका भटक जाना संभव है। साधना पथ में भी अनेक वैभाविक परिस्थितियों—अहंकार, ममकार, ईर्ष्या, द्वेष के दुर्लभ नद, नाले, खोह, गह्वर, पर्वत आदि मिलते हैं। यदि साधना से इन्हें पार भी कर लिया जाये तो आगे अणिमा, गरिमा, महिमा जैसी सिद्धियों का आकर्षण अवरोधक बन कर उपस्थित हो जाता है। 28 प्रकार की लब्धियां कही गई हैं। उन्हें प्राप्त कर भी यदि वह अहं का शिकार हो जाता है तो वह साधना से स्खलित हो जाता है। किन्तु जो साधक इनमें लिप्त न होकर अनासक्त भाव से आगे बढ़ता जाता है वस्तुतः वही विशुद्ध साधना कर सकता है। ऐसे साधक विरल हैं परन्तु ऐसे विरलतर हैं जिन्होंने स्वयं तो अनासक्त साधना की ही, अन्य लोगों के लिये भी ऐसी राह बना दी कि वे भी साधना पथ पर निर्भीक होकर चल सकें और अपना जीवन सफल बना सकें। ऐसा ही एक साधक जिसने साधना में अपने आपको तपाया था गुरुणां गुरु आचार्यश्री गणेशलालजी म.सा. थे। साधुमार्ग के ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र के जीवन के प्रसंग निश्चय ही प्रेरणादायक हो सकते हैं, अतः उन पर दृष्टिपात अपेक्षित है।

वालक वय में वे पिता श्री साहिबलालजी के साथ संत दर्शन को जाया करते थे। इसलिये उनका यह कहना उचित ही था कि ये धर्म-संस्कार मुझे पैतृक विरासत से मिले हैं। पूज्य आचार्यश्री

श्रीलालजी म.सा. का उदयपुर में चातुर्मास चल रहा था। कहते हैं, उस समय वहां सप्ताह-पन्द्रह दिनों में दयाव्रतों का आयोजन होता रहता था। उनके पिताजी ने भी दयाव्रत व्रत स्वीकार किया था। बालक स्वभावतः अनुकरणप्रिय होते हैं और बालवय के संस्कार ही स्थायी बनते हैं। बार-बार दया व संतों के प्रति धर्मानुराग से ही वे आगे बढ़ पाये थे, ऐसा वे कहते भी थे। आचार्यदेव की पारखी निगाहों ने बालक गणेश की भाग्य रेखा पढ़ ली और एक दिन व्याख्यान के पश्चात उन्होंने श्री साहिबलाल से जिज्ञासा प्रकट कर ही दी। उन्होंने पूछा– 'यह बालक कौन?' उत्तर मिला, 'अन्नदाता। यह गणेश है।' निर्देश मिला, 'यदि यह बालक दीक्षा ले तो अन्तराय मत देना।'

'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत'

अर्थात् बालक में जो संस्कार बचपन में पड़ जाते हैं वे अमिट बन जाते हैं। संयोग की बात, भरा-पूरा परिवार प्लेग की चपेट में आ गया और वे अकेले रह गए। उन्हीं दिनों युगद्रष्टा, युगस्रष्टा, ज्योतिर्धर जवाहराचार्य, जब वे मुनि पद पर ही विराजमान थे, का चातुर्मास, वहां (उदयपुर में) हुआ। संवत्सरी का दिन था, गणेशलालजी ने भी पौषध किया। उस दिन अनायास ही परिचय का प्रसंग बन गया। विचक्षण प्रतिभा के धनी आचार्यदेव ने कुछ प्रेरणा दी और गणेशलालजी ने अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। चातुर्मास पूर्ण होते ही मार्गशीर्ष प्रतिपदा (एकम) को दीक्षा भी प्रदान कर दी गयी। प्रखर प्रतिभा के धनी दीक्षार्थी को शिष्यत्व के व्यामोह से नहीं किन्तु योग्यता व क्षमता के आधार पर ही दीक्षित किया गया था। ये ही मुनि जब युवाचार्य पद पर विराज रहे थे, कोटा में चातुर्मास चल रहा था, तब वर्तमान गुरुदेव (आचार्य श्री नानेश) वैरागी अवस्था में थे। प्रथम बार वे भी दर्शनार्थ उपस्थित हुए, पर यह क्या! वर्तमान आचार्यदेव ने अपने आपको वहीं खो (विलीन कर) दिया और दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की। निर्लिप्त

साधक (आचार्य प्रवर) का स्पष्ट उत्तर था– 'भाई, संयम बच्चों का खेल नहीं है। प्रथम बार मेरे पास आये हो, भावुकता में कह तो रहे हो, आपने अभी देखा ही क्या है? यह जीवन भर का सौदा होता है। पहले एक-दूसरे के स्वभाव को जान लो।' महापुरुषों की यही विशेषता होती कि वे छल-छद्म और सस्ती भावुकता से दूर ही रहते हैं। आचार्यदेव का व्यवहार ऐसा ही था। इस स्थिति को रूपक में ढाल कर कवियों ने इस प्रकार कहा है– एक कन्या आज तक कुंआरी है। जिसे कन्या चाहती है वह वर उसे नहीं चाहता है और जो वर उसे वरना चाहता है उससे कन्या मुँह मोड़ लेती है। वह कन्या कौन है और वह वर कौन है, बताने की आवश्यकता नहीं।

जिन आचार्यदेव की बात चल रही थी उनका तो नाम ही 'गणेश' था। 'गणस्य ईशः' अर्थात् एक गण का स्वामी (ईश) और यदि कहें कि 'गणानाम् ईशः' अर्थात् अनेक गणों के स्वामी तो भी गलत नहीं। सादड़ी सम्मेलन में जब बहुत-से सम्प्रदायों का विलीनीकरण हुआ था तब संघ-संचालन का समस्त उत्तरदायित्व गुरुदेव के हाथों में ही सौंपा गया था। यदि कहें कि 'गणयोः ईशः' अर्थात् दो गण के स्वामी तो यह सम्बोधन भी सार्थक है क्योंकि बहुश्रुत श्रीसमरथमलजी म.सा. ने भी उस समय (उदयपुर भूपालपुरा) में अपना समर्पण (आचार्य श्री गणेश का नेतृत्व स्वीकार किया था) आचार्यदेव के प्रति ही दिया था। ऐसे आचार्यदेव श्री गणेशाचार्य के जीवन में यदि सजगता व कठोरता थी तो हृदय नवनीत से भी कोमल था। स्व. कविवर्य उपाध्याय श्री अमरमुनिजी म.सा. ने उन्हें बीकानेरी मिश्री से उपमित किया था जो खाने पर तो मिठास दे परन्तु यदि उसकी चोट लग जाये तो खून भी निकाल दे। आचार्यश्री को शैथिल्य स्वीकार नहीं था इसीलिये जब वे श्रमण संघ के उपाचार्य थे तब यदि कोई साधक लेख लिखता था तो उस समय बनाई गयी समिति के द्वारा अनुमोदित कर दिये जाने पर ही प्रकाशित किया जा सकता था, अन्यथा नहीं। आचार्यदेव

के ही एक शिष्य श्री आईदानजी म.सा. ने इस नियम का उल्लंघन कर अपना लेख स्वयं ही प्रेस में दे दिया और लेख का प्रकाशन हो गया। उस समय आचार्यदेव गोगोलाव में विराज रहे थे। आईदानजी म.सा. उपाध्याय मुनि श्री अमरचंदजी म.सा. के साथ कुचेरा में विराज रहे थे। लेख की बात आचार्यदेव तक पहुँची। चातुर्मास उपरांत मुनि पहुँचे तो आचार्यदेव ने उनसे स्पष्टीकरण मांगा। उन्होंने भी सही बात बता दी। आचार्यदेव ने कहा– तुम्हें प्रायश्चित (दंड) लेना होगा। उन्होंने कहा– आप मेरे गुरु हैं, यदि गुरु-शिष्य के नाते आप दंड दें तो मंजूर है पर यदि श्रमण संघ के उपाचार्य के नाते आप दंड देंगे तो मैं दंड नहीं लूंगा। गुरुदेव ने कहा– मे अभी श्रमण संघ का उपाचार्य हूँ अतः उसी के नाते ही दंड देना चाहता हूँ। आज्ञा का उल्लंघन करने पर उनके साथ संबंध विच्छेद कर दिया गया। आचार्यदेव जानते थे कि शिष्य के नाते दण्ड देने पर सम्प्रदायवाद का फिरका परस्ती का पोषण होगा जबकि संघ की व्यवस्थाओं का पालन कठोरता से होना चाहिये। उस समय वे सुनियोजित साजिश का शिकार बन सकते थे क्योंकि विधान के अनुसार सारी शिक्षा, दीक्षा, प्रायश्चित आदि एक ही आचार्य के अधीन थे और यदि अनुशासन स्थापित करने में वे शिथिलता बरतते तो सारा वातावरण उनके विरुद्ध हो जाता परन्तु अपनी सतर्कता, दृढ़ता एवं अनुशासनप्रियता के कारण वे अपने विरुद्ध रचे गये षड्यंत्र के शिकार नहीं हुए। उन्होंने यह स्थापित कर दिया कि शिष्य-मोह में व्यवस्था भंग नहीं की जा सकती, शिष्य चाहे रहे, चाहे चला जाये।

उन्होंने जीवन के अंत तक कठोर साधना की। कहते हैं, उन्हें जो व्याधि थी उसमें एक हजार बिच्छू डंक मारे, इतनी वेदना होती थी पर उनका संयम अद्‌भुत था। चेहरा शांत-प्रशांत बना रहा, असह्य वेदना के कोई भी चिह्न उस पर उन्होंने प्रकट नहीं होने दिये। वैसी बीमारी वाला रोगी डॉक्टरी सिद्धान्तानुसार सामान्यतः छः माह से अधिक नहीं जी सकता परन्तु आचार्य श्री ढाई वर्ष के

लगभग साधनारत रहे। डाक्टरों ने उस स्थिति को देख कर यहां तक कह दिया कि उन्होंने चिकित्सा शास्त्र के सिद्धान्तों तक को झुठला दिया था। डॉ. शूरवीरसिंहजी प्रतिदिन चेक-अप करने आते थे। आचार्यदेव ने उनसे कहा, 'आप रोज क्यों कष्ट करते हैं, आपके पास बहुत से काम हैं।' डाक्टर साहब ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया– 'आपके दर्शनार्थ इतने भक्त आते हैं तो क्या मैं नहीं आ सकता ?' सेवाभावी श्री सुन्दरलालजी लोढ़ा दर्शनार्थ आये, वर्तमान गुरुदेव ने उन्हें मांगलिक सुना दी। उनका स्थानान्तरण बीकानेर हो गया था और वे कार्यभार ग्रहण करने जा रहे थे। स्व. गुरुदेव ने सहज ही फरमाया कि एक-दो दिन में आ जायेंगे। वे भी विचारमग्न हो गए पर कुछ कहा नहीं। रवाना होकर जोधपुर पहुँचे ही थे कि स्टेशन पर ही तार मिला कि आपकी ड्यूटी तो उदयपुर में ही है, भूल से वह समाचार आपको दिया गया था। आपका स्थानांतरण नहीं हुआ है।

आचार्यदेव का संथारा चल रहा था। वे पूर्ण सजग अवस्था में थे और वर्तमान गुरुदेव से बोल-बोल कर विधि करवा रहे थे। नवदीक्षित साधक की तरह विनम्र भावों से वर्तमान आचार्यदेव पाठ उच्चारण कर रहे थे। वर्तमान गुरुदेव सेवा में उपस्थित थे– कुछ सुनाने का प्रसंग चल रहा था। वे सिरहाने की ओर बैठे थे तभी उन्होंने देखा कि आचार्यदेव की आंखों से दिव्य प्रकाश निकल रहा था– वे उठकर चरणों की तरफ आ गए। एक अनुपम ज्योति उनकी आंखों से निकल रही थी। उन्होंने इस शरीर को कार के रूप में समझ लिया था। मन, वचन, काया रूपी चाबी जैसे उनके पास थी, जब जरूरत पड़े तो स्टार्ट कर लो नहीं तो रोक दो। देह भिन्नता का बोध ही आत्मज्ञान की उपलब्धि है।

एक नेताजी दुर्घटनाग्रस्त हो गये थे। घूमने-फिरने के आदी थे और डाक्टर ने तीन माह के आराम का निर्देश दे दिया था। बेड रेस्ट में थे, मित्र आये तो वे फूट-फूट कर रोने लगे। मित्रों ने पूछा– क्या तकलीफ ज्यादा है? उत्तर मिला– नहीं, मुझे बीमारी

की चिंता नहीं है पर तीन माह में तो वैसे ही मर गया। मित्र ने पूछा– तुम्हें दर्द कहाँ है? कहने लगे– पूरे पैर में। मित्र ने फिर पूछा– तुम्हें यथार्थ में पीड़ा कहां हो रही है? उन्होंने ध्यान केन्द्रित किया फिर इशारा किया कि पूरे पैर में नहीं, मात्र अमुक भाग में पीड़ा है। कहा गया– नहीं, ध्यान को और केन्द्रित करो। उत्तर मिला– हाँ, मुझे छः इंच के भाग में पीड़ा हो रही है। कहा गया– अभी भी ध्यान में अपूर्णता है। अरे हाँ! पीड़ा तो मात्र राई जितने भाग में है। कहा गया– ध्यान को और केन्द्रित करो। बोले– मुझे तो पीड़ा हो ही नहीं रही है। विचार करें, यह स्थिति क्या थी? वस्तुतः व्यक्ति जब आत्मा में स्थित हो जाता है, तब ऐसी स्थिति बन जाती है। पीड़ा का जब मन और वाणी से फैलाव किया जाता है तो पीड़ा महसूस होती है। देह और आत्मा की भिन्नता को महसूस किया जाय तो पीड़ा नहीं होती।

आचार्य भगवन ने अपने रोग के संबंध में ऐसा ही महसूस किया था तभी तो वह दिव्य प्रकाश निकल रहा था। जीवन का सूत्र है– 'जहां अंतो तहा वाहिं' प्रभु के चरणों में यह आचरित हो गया। आज व्यक्ति कहता है, आचरण हो नहीं सकता, पंचम काल है, पर प्रभु का शासन इक्कीस हजार वर्ष तक चलेगा। अठारह हजार वर्ष बाद मात्र चार अध्ययन दशवैकालिक के पढ़कर यदि कोई एक भवावतारी बन सकता है तो हमें तो विपुल ज्ञान-भण्डार उपलब्ध है। हम पुरुषार्थी बनें। महापुरुषों के आदर्श को दृष्टि-पथ में रखकर आचरण करें तो अवश्य ही हमारा कल्याण होगा।



7. अंतर-चक्षु खुलने का रहस्य

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने संसार के समस्त जीवों की रक्षा-रूप दया के लिये जिस द्वादशांगी दिव्य देशना का दान दिया उसमें आचारांग सर्वप्रथम है। आचार के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाली इस देशना का ही एक सूत्र है 'आयत चक्खू लोग विपस्सी' अर्थात् लम्बी (दीर्घ) आंखों से लोक को देखो। आंख को लम्बा कैसे किया जाय? आंख तो जितनी है उतनी ही रहेगी। यह बात अलग है कि आज के युग में ऑपरेशन आदि के द्वारा उसके आकार में कुछ दीर्घता उत्पन्न कर दी जाय या दूरबीन आदि के माध्यम से अधिक दूरी तक देखने की क्षमता उसे प्रदान कर दी जाये परन्तु इतने मात्र से लोक को अधिक स्पष्टता से देखने की बात सिद्ध नहीं होगी। देखने की इस विशिष्टता के संबंध में आनन्दघनजी ने अपनी काव्य पंक्तियों में कहा है-

जेणे नयण करी मारग जो वियेरे नयणा तेदिव्य विचार।

चरम अर्थात् इन चर्म चक्षुओं से संसार को देखता हुआ मैं भूल गया हूँ कि मुझे क्या देखना चाहिए। प्रभो, आपने जिस एकान्त सुख की अवस्था उपलब्ध कर ली, वह मुझे प्राप्त नहीं है। इस एकान्त सुख को प्रदान करने की बात का ही संबंध उस बड़ी आंख या ज्ञान से है जिसकी प्राप्ति अथवा उपलब्धि ही मुमुक्षु का उद्देश्य होना चाहिये। शास्त्रकारों ने कहा है-

'एगंत सोक्खं समुवेई मोक्खं' अर्थात् एकान्त सुख मोक्ष में ही प्राप्त होगा। इस कार्य के लिए सम्यक् पुरुषार्थ भी आवश्यक होगा। इस चरम (चर्म) अर्थात् चमड़े की आँखों से कोई अपने आपको सही रूप में नहीं देख पाया है। उस 'चरम' शब्द का यह फलितार्थ भी हो सकता है- चरम नयन याने अंतिम (Last) नयन, जिसे हम केवलज्ञान कह सकते हैं। पन्नवणा सूत्र में श्रुत को भी चक्षु कहा गया है। ऐसा इसीलिये है क्योंकि श्रुत अर्थात् आगम

भीतरी साधना में गति कराते हैं जबकि बाहर की आंखें केवल सांसारिक क्रियाओं तक ही सीमित रहती हैं। साधुओं के लिये भी इसीलिये 'आगम चक्षु' विशेषण का प्रयोग किया जाता है क्योंकि आगमिक ज्ञान के सहारे अंतर साधना की दिशा में प्रवृत्त होते हैं। मतिज्ञान को छोड़कर ज्ञान के शेष चार प्रकारों को चक्षु की संज्ञा दी गई है। मतिज्ञान से नहीं देखा जाता। आचार्य धर्मघोष श्रुतज्ञान में प्रवीण थे। श्रुतज्ञान से भी बहुत दूर तक की स्थिति का परिज्ञान हो सकता है। ज्ञाता सूत्र में उल्लेख आता है– धर्मरुचि अणगार जब कडुवे तुम्बे का आहार लेकर गुरु चरणों में उपस्थित हुए तब गुरु की दृष्टि ने आहार का निरीक्षण किया और निर्देश दे दिया कि इसे प्रासुक स्थान में परठ दो, विसर्जित कर दो। धर्मरुचि अणगार ने परठने में अयतना– जीव-हिंसा होती देखकर सर्वथा निर्दोष स्थान स्वयं के उदर को मान कर उसी में पहुंचा दिया और काल-कवलित हो गए। जब बहुत विलम्ब हो गया और वे लौटे नहीं तब सन्त वर्ग ने गुरुदेव से आज्ञा ली और उनकी खोज में निकल पड़े। काफी खोज के बाद उन्हें धर्मरुचि अणगार की मृत देह नजर आई। भण्डोपकरण ग्रहण कर वे गुरु चरणों में पहुँचे और अपनी जिज्ञासा व्यक्त की– 'भंते धर्मरुचि अणगार काल धर्म को प्राप्त कर कहाँ गये?' गुरुदेव ने, जिन्होंने निर्मल श्रुतज्ञान रूप चक्षु से सत्य जान लिया था, कहने लगे– 'धर्मरुचि अणगार ने समभावपूर्वक कष्ट सहन किया, संथारेपूर्वक शरीर का त्याग किया और अनुत्तर विमान से वे देवत्व पर्याय को प्राप्त हुए हैं।' इस प्रकार श्रुतज्ञान रूप चक्षु से भी देखा जा सकता है। इसी तरह अवधि ज्ञान, मनःपर्यण ज्ञान व केवल ज्ञान से भी जाना जा सकता है।

एक और दृष्टांत लें। गुरुकुल में एक क्षत्रिय कुमार ज्ञानर्जन कर रहा था। अध्ययन पूर्ण होने पर वह गुरु चरणों में उपस्थित हुआ। वन्दन करने के पश्चात उसने निवेदन किया– 'गुरुदेव! अब जाना चाहता हूँ, अतः आपसे अपनी शैक्षणिक योग्यताओं का प्रमाणपत्र चाहता हूँ ताकि मैं लोगों को बता सकूं कि मैंने

अच्छे अंकों से परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं।' गुरु ने कहा– 'वत्स अभी तुम्हारा अध्ययन अपूर्ण है। प्रमाणपत्र नहीं दिया जा सकता।' सुनकर क्षत्रिय कुमार कुछ आवेश में आ गया, बोला– 'गुरुदेव! मैंने तो सभी विषयों में प्रथम श्रेणी में सफलता हासिल की है।' उसने युद्ध-विद्या में विशेष निपुणता प्राप्त की थी अतः कहने लगा—'यदि आप मुझे युद्ध विद्या में पराजित कर दें तो मैं मान लूंगा कि मेरी शिक्षा अधूरी है।' गुरु ने कहा– 'वत्स मेरी बात पर विश्वास करो, नहीं तो तुम्हारी चुनौती मुझे स्वीकार है।' गुरुदेव ने लुहार को बुलाया व आदेश दिया– 'मुझे 20 हाथ लम्बी म्यान बना दो।' शिष्य ने सुना और उसने भी 30 हाथ लम्बी तलवार का आदेश दे दिया। युद्ध प्रारम्भ हुआ। गुरु की 20 हाथ लम्बी म्यान में मात्र 2 हाथ लम्बी तलवार ही थी। गुरुदेव ने कहा– 'वत्स! तुम्हें प्रथम वार का अवसर प्रदान किया जाता है किन्तु शर्त यह है कि मैं 5 तक गिनती गिनूं उस बीच तुम प्रहार कर सकते हो। उसके बाद बारी मेरी होगी।' शिष्य तो मौका पाकर प्रसन्न था पर यह क्या! 30 हाथ लम्बी तलवार इतनी जल्द कैसे निकलती। 5 की गिनती तक तो 2/4 हाथ भी न निकल पाई। गुरु ने झट अपनी 2 हाथ लम्बी तलवार शिष्य के सीने पर रख दी। 'वत्स! अध्ययन पूर्ण हो गया या शेष है?' पढ़ना अलग बात है और उसका मनन कर ज्ञान का उपयोग कर पाना अलग बात है। यह है अंतर चक्षु का एक रूप।

शास्त्रों में उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग का कथन हुआ है। इनमें विधि-निषेध मार्ग के स्वरूप को जानकर यदि आचार पथ पर आगे बढ़ा जाय तो सफलता हस्तगत हो सकती है। धर्म साधना के लिए भी धर्मस्थान के प्रवेश हेतु उववाई सूत्र में प्रभु ने 5 अभिगम बताये हैं। 'आयत चक्खू' हम कैसे बनें? हम पढ़ तो लेते हैं लेकिन उसका रस अपने भीतर कितना उतार पाते हैं यह मुख्य बात है। ज्ञान का व्यावहारिक आचरण होने पर ही वह सार्थकता प्राप्त करता है। आगम सूत्रों पर हमारी अनुप्रेक्षा न हो,

हम इसके हार्द को न समझें, तो हमें कुछ प्राप्त नहीं होगा। प्रथम अभिगम है– 1. सचित्त का त्याग– इसके पीछे भी बहुत बड़ा मनोविज्ञान छुपा हुआ है। सचित्त अर्थात् चित्त सहित, सजीव। तो क्या हम अपने साथ भाई को नहीं लायें? नहीं, इसका तात्पर्य है जो अव्यक्त कोमल चेतना वाले प्राणी हैं, उन्हें लाने की मनाही है। हमारी जरा-सी असावधानी से इनके प्राण पँखेरू उड़ सकते हैं। वे जीव भी सुख चाहते हैं और हमारे भीतर यदि इनके प्रति अनुकम्पा होगी तो हम इनका अपलाप नहीं करेंगे। यदि तुम इनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करोगे, रक्षा में तत्पर नहीं बनोगे तो तुम्हारी सम्यक्त्व की भावना कैसे सुरक्षित रहेगी? 'सव्व भूयप्प भूयस्स' का सूत्र यदि तुम्हारे भीतर क्रिया कर रहा है तो ही उन जीवों के प्रति तुम्हारी हमदर्दी होगी। साथ ही, जहाँ से तुमने उसका त्याग किया, वहीं से तुम लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाओगे। धर्म साधना के लिए जाते समय सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव बनने से हमारा मन वहीं से साधनारत हो जायेगा।

दूसरा अभिगम है– 'अचित्त का विवेक'। शास्त्रकारों ने बताया है कि जब राजा-महाराजा प्रभु के समवसरण में जाते थे तो समवसरण के नजदीक पहुँचते ही अपने वाहन आदि का त्याग कर देते थे जिससे श्रमण निर्ग्रन्थों के सम्मुख अहं का पोषण नहीं होने पाए। यदि उन्हें देखकर वाहन आदि अहं पोषक साधन नहीं छोड़े गये तो तीर्थंकर देवों की आशातना का प्रसंग बन जायेगा। इसलिए आगे पैदल चलकर अपना स्थान ग्रहण किया जाता था। स्थान भी सभी का नियत होता था। देव के स्थान पर देव, अवधिज्ञानी के स्थान पर अवधिज्ञानी तथा मनःपर्यवज्ञानी के स्थान पर मनःपर्यवज्ञानी ही बैठते थे। उनकी जगह दूसरा कोई नहीं बैठता था।

यदि मनुष्य में अहंकार भाव आ जाये तो साधना में उसका मन नहीं लगेगा। मन में यदि आप किसी व्यक्ति से युद्ध कर

रहे हैं अथवा मन किसी अन्य विषय में लिप्त है तो सामायिक में मन कैसे लगेगा? प्रसन्नचन्द्र राजऋषि के दृष्टांत पर विचार करें। वे ध्यानस्थ थे। श्रेणिक राजा के व्यक्तियों के शब्द प्रसन्नचंद्र के कान में पड़े– मंत्रीगण, उनके पुत्र को कितना कष्ट दे रहे हैं? राजर्षि के भीतर द्वंद्व शुरू हुआ और भावों से वहीं खड़े-खड़े ध्यानस्थ अवस्था में भावों से ही मंत्रीगण से युद्ध प्रारंभ कर दिया। तूणीर के सभी तीर भाव-युद्ध करते-करते समाप्त हो गए। कथा लम्बी है। राजा श्रेणिक प्रभु महावीर के समवसरण में पहुँच कर ध्यानस्थ मुनि के बारे में पूछते हैं। तब भगवान ने फरमाया– प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अभी काल धर्म को प्राप्त हों तो सातवीं नरक में जाएं, क्योंकि शरीर साधना में होते हुए भी मन साधना से विचलित हो गया है। अंतर में द्वंद्व मच गया, यह बात अलग है कि भावना बदली और केवलज्ञान प्रकट हो गया। धर्म क्षेत्र में आने वाले सभी व्यक्ति एक भावना से नहीं आते हैं। दूकान में तो उनके नाप का जूता मिले या नहीं पर धर्मस्थान में तो मिल ही सकता है। दूकान में तो पूरी तरह फिट देखा जाता है परन्तु यहाँ पर तो थोड़ा ढीला हो तो भी चलता है (व्यंग)। यदि अचित्त का विवेक है तो मन डोलायमान नहीं होगा। यदि विवेक नहीं रखा गया तो मन साधना से जुड़ नहीं पायेगा। यदि अंतर में द्वंद्व मचा रहेगा तो फिर स्थिरता कैसे सध पायेगी?

श्रावकजी धर्मस्थान में सामायिक करने आये, अपना कण्ठा उतारकर रख दिया और कोई अन्य भाई उसे उठा ले गया। देखिये, दोनों के मन की स्थिति कैसी थी? कण्ठा चला गया तो भी मन सामायिक से नहीं डोला। उस श्रावक का तो मन नहीं डोला किन्तु उसका कण्ठा तो दूर, आज यदि जूता-चप्पल भी कोई पहन ले और सामायिक में देख लें तो मन उचट जायेगा, शायद उसी समय उससे जूता-चप्पल खुलवा लेंगे। यह अचित्त का विवेक नहीं होने से मन का विचलन है।

धर्म क्षेत्र में जाते हैं तो वहाँ का वातावरण पूरी तरह से धार्मिक होना चाहिये। कभी-कभी भाई पूछते हैं– सेल वाली घड़ी से क्या हानि है? व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि सेल वाली घड़ी तो एक जगह (स्थान) पर टंगी रहती है। उनको समझना चाहिए कि जब धर्मस्थान में सचित्त पदार्थ ही नहीं ले जाना है तो सेल की घड़ी को धर्मस्थान में रखने का प्रसंग ही कहाँ रह जाता है क्योंकि उससे तो निरन्तर हिंसा होती रहती है, उसकी अनुमोदना में सहभागी कैसे बनेंगे ? जहां तेऊकाय के जीवों की निरन्तर विराधना होती है वहाँ आपका मन कैसे स्थिर रह सकता है?

आचार्यदेव (नानेश) का घाटकोपर चातुर्मास था। चातुर्मास के पहले ही विद्युत विषयक सारी स्थिति स्पष्ट कर दी गयी थी। सभी ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी थी। व्यवस्थापकों ने पर्युषणों में निवेदन किया 'भगवन्! सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में उपस्थिति पाँच हजार के लगभग हो सकती है, वहां प्रतिक्रमण कैसे होगा? हमारी तो इतनी तेज आवाज होगी नहीं फिर ऊपर से उपवास अलग रहेगा। माइक का प्रयोग नहीं हुआ तो संभालना मुश्किल हो जायेगा।' आचार्य भगवन् ने कहा– 'व्याख्यान की स्थिति में मैंने अलग-अलग व्यवस्था कर दी। अनेक भाई-बहनें हैं, वैरागी-वैरागिनें हैं– अलग-अलग स्थान पर प्रतिक्रमण कराया जा सकता है, तकलीफ की कोई बात नहीं है। प्रतिक्रमण करने के लिए आज्ञा लेनी होती है और माइक पर प्रतिक्रमण करने के लिए मैं आज्ञा दूंगा नहीं, फिर आप किसकी आज्ञा से प्रतिक्रमण करेंगे? आप प्रतिक्रमण में 'खामेमि सव्वे जीवा' का पाठ उच्चरित करेंगे और दूसरी ओर असंख्य तेऊकाय के जीवों का विनाश करेंगे। कैसे होगा खामेमि सव्वे जीवा? यदि हमने अपनी आत्मा के तुल्य अन्य को नहीं समझा तो कैसे हमारा मन धार्मिक अनुष्ठान में, सामायिक में लगेगा? काफी प्रयत्नों के पश्चात् अन्ततः उन्होंने बिना माईक के प्रतिक्रमण करना स्वीकार किया। संवत्सरी प्रतिक्रमण के बाद वे कहने लगे कि इस बार हमें प्रतिक्रमण में अपूर्व आनंद आया।

अब हमने संघ में यह नियम बनाने का विचार कर लिया है कि प्रतिक्रमण में मॉइक का प्रयोग नहीं किया जायेगा। तीसरा अभिगम उत्तरासन धारण करना है। वायुकाय के जीवों की विराधना न हो इसलिए उत्तरासन धारण की बात आयी। हमारे मुँह से निकली हुयी उष्ण गतिशील वायु से वायु काय के जीवों की तो विराधना संभवित है, कभी-कभी त्रस जीवों की भी हिंसा हो सकती है।

खुले मुंह बोलने वाला जो भाषा बोलता है, भगवती सूत्र में उसे सावद्य भाषा कहा गया है। हमने तीन करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया है। आप खुले मुँह बोलते हैं और हम आपसे बात करें तो हमें भी अनुमोदना लगती है। अतः यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हिंसा या विराधना नहीं हो। वक्ता जब ऊँचे स्वर में बोलता है तब उसके मुँह से थूक के छींटे या कण भी उछलते हैं जो सामने वाले पर गिर सकते हैं। इस प्रकार थूक डालना उसका तिरस्कार करना होता है जो मानसिक अथवा भावात्मक हिंसा का ही एक रूप है। ऐसी स्थिति बने ही नहीं, इसके लिये ही उत्तरासन की व्यवस्था की गयी है। अध्यात्म क्षेत्र में जब साधना की अभिलाषा से प्रवेश हो रहा हो, तब धर्मस्थान में प्रवेश से पूर्व ही किसी भी रूप में, किसी के प्रति भी अपमान की भावना त्याग दी जाये यह आवश्यक है। अपने आराध्य के सम्मुख तो किसी भी रूप में इस प्रकार से अपमान अथवा अशिष्टता करने की संभावना ही न रहे, इस कारण उत्तरासन धारण करने का विधान किया गया है।

धर्मस्थान में प्रवेश के साथ ही आराध्य के दर्शन की स्थिति बनती है और उनके दृष्टिगत होते ही उन्हें वन्दन करना आराधक का प्रथम कर्तव्य हो जाता है। वंदन की इस क्रिया से ही चौथे और पाँचवें अभिगम का संबंध है। सामाजिक क्षेत्र में जिस क्रिया को प्रणाम या नमस्कार कहते हैं, आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र में उसे ही वंदन कहते हैं। भारतीय संस्कृति में वंदन अथवा 'नमन' का विशेष महत्त्व है। प्रणाम, नमस्कार, चरणस्पर्श आदि वंदन

के ही प्रकार हैं। नमस्कार क्रिया में दोनों हाथ जोड़ दिये जाते हैं जबकि प्रणाम में कुछ झुकने की प्रक्रिया के साथ दण्डवत भूमि का स्पर्श अथवा चरण- स्पर्श भी हो सकता है। चरण-स्पर्श अपने आप में नमन की एक अति विशिष्ट क्रिया है। वंदन में, जो श्रद्धापूर्ण नमन का उत्कृष्टतर रूप है, शरीर के पाँचों अंग झुकते हैं। वंदन के इस अभिगम पर किंचित विस्तार से विचार अपेक्षित है।

चौथा अभिगम है दृष्टि-वंदन और पाँचवा अभिगम है मन, वचन और काया से एकाग्रतापूर्वक पर्युपासना करना। व्यवहार में इसे विधियुक्त वंदन या सविधि वंदन बोल देते हैं। महापुरुष अथवा आराध्य के दृष्टिगत होते ही अथवा जैसे ही वे नजर आयें, उन्हें दृष्टि-वंदन करें। दृष्टि-वंदन से अभिप्राय यह है कि गुरु पर दृष्टि पड़ते ही हमारा मस्तक और नेत्र झुक जायें और इस भाव की अभिव्यक्ति हो कि आप गुरु चरणों से कुछ पाने की पात्रता अर्जित कर रहे हैं। कुएँ से पानी निकालने के लिए जब हम बाल्टी कुएँ में उतारते हैं तब यदि वह बाल्टी सीधी की सीधी पानी पर टिक जाए तो क्या उसमें पानी भर पाएगा? नहीं, पानी भरने के लिए उसे झुकाना पड़ेगा। जैसे-जैसे बाल्टी झुकाते हैं वह भरती जाती है। इसी प्रकार दृष्टि-वंदन की बात है। गुरु के चरणों में नमन करने से हमारे जीवनरूपी पात्र में ज्ञान-नीर का प्रादुर्भाव होता है। यह गुरु कृपा की पात्रता अर्जित करने का उपाय है। वंदन द्वारा ज्ञानदाता के प्रति सम्मान व्यक्त करना, विनय करना अनिवार्य है। वह महापुरुष जो भी उद्बोधन देगा उससे हमारे भीतर की सुप्त चेतना जाग्रत होगी। यहाँ झुकना शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, झुकाना से यह भिन्न है। झुकाना परवशतापूर्वक होता है जबकि स्वयं झुक जाना श्रद्धाभाव का प्रकटीकरण होता है और पात्रता के अर्जन की अभीप्सा का प्रमाण भी।

पाँचवाँ अभिगम है विधिपूर्वक वंदन करना अर्थात् मन, वचन और काया की एकाग्रतापूर्वक गुरु की पर्युपासना करना। वंदन करने से नीच गोत्र का बंधन नष्ट होता है और उच्च गोत्र-बंध होता है।

आप नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते हैं। 'एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो' शब्दार्थ तो आप जानते हैं किन्तु भावों से भी आपका परिचय होना आवश्यक है, नमन विधि को जानना भी आवश्यक है। इन पांच पदों को नमस्कार करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। हमने नमस्कार तो किया है परन्तु विधि सहित नहीं किया, वंदना की विधि पूरी नहीं की। तो लाभ कैसे मिलेगा एक अन्य सम्प्रदाय के सज्जन मिले तो उन्होंने कहा कि आपके वहां जितने व्यक्ति हैं, उतने ही वंदन के तरीके हैं। इसमें विधि कौन-सी है, यह समझ में नहीं आती। दस व्यक्ति आते हैं और दस प्रकार से वंदन करते हैं तब विधि से अनजान व्यक्ति किसे सही वंदन माने और किस विधि से वंदन करे? परन्तु यदि सावधानीपूर्वक निरीक्षण करे तो हमारी विधि-युक्त क्रियाओं से आगन्तुक सहज ही विधि सीख सकता है। वंदन के लिए मन, वचन, काया की एकाग्रता अपेक्षित है। मन, वचन तो कुछ सूक्ष्म है पर हमारी काया स्थूल है। जिस समय वंदन किया जाता है उस समय वंदन करते हुए हमारे पांचों अंग और हमारे शरीर की सभी चौदह सन्धियाँ नीचे नमनी चाहिए। एक वैज्ञानिक खोज के अनुसार इस क्रिया में हमारे भीतर के 72000 जोड़ (संधियां) भी काया के साथ झुके। उनके साथ मन और वचन का संयुक्तीकरण भी होना चाहिए। वस्तुतः मन, वचन और काया के संयुक्तीकरण के साथ एक बार भी वंदन किया जाये तो वह पापों का नाश करने वाला होता है।

एक साधु पहले दीक्षित हो गया और एक अन्य साधु बाद में दीक्षित होता है। यदि बाद में दीक्षित होने वाला साधु अधिक विद्वान हो जाये और वह सोचे कि मैं अधिक विद्वान हो गया हूँ तो अब बड़े अर्थात् पूर्व दीक्षित साधु को वंदन कैसे करूं तो यह मन का शल्य कहलाता है। बाहुबली का उदाहरण लें। वे मन में चिन्तित थे कि मैं भाइयों को वंदन कैसे करूं? इसी ऊहापोह के चलते उनका केवलज्ञान रुका हुआ था। भगवान ऋषभदेव ने

ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहनों को उन्हें प्रतिबोध देने भेजा। उन्होंने सम्बोधित करते हुए कहा–

'वीरा म्हारा गज थकी उतरो।'

बहनों के ये शब्द सुनकर बाहुबलीजी का मन नमा और वंदनार्थ एक कदम बढ़ाते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

वंदन के पीछे बहुत रहस्य छिपा हुआ है। वंदन से हमारे भीतर ऊर्जा पैदा होती है। शास्त्रों में, कथा भाग में तो यहां तक बताया गया है कि गुरु के रहते हुए यदि शिष्य को केवलज्ञान हो गया तो भी उसने वंदन व्यवहार बंद नहीं किया। गुरु को यदि ज्ञात हो जाये तो वे वंदन करने नहीं दें परन्तु ज्ञात नहीं होने तक शिष्य वंदन करना बंद नहीं करते हैं। वंदन करने से आध्यात्मिकता की किरणें शरीर में प्रवेश कर भीतर ऊर्जा पैदा कर देती हैं।

चरण-स्पर्श की भी विधि है लेकिन सामान्यतः उसका समुचित ज्ञान अथवा उसकी विधि का परिज्ञान हमें नहीं होता। प्रतिक्रमण में 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोलते हैं। इच्छामि खमासमणो सूत्र के माध्यम से साधक बोलता है, निवेदन करता है कि भंते! 'अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो' अर्थात मेरे ऊर्ध्व भाग के आपके अधोभाग अर्थात् चरण को स्पर्श करने से आपको कष्ट हुआ हो– आपको क्लेश पहुँचा हो तो क्षमा चाहता हूँ। मन, वचन और क़ाया की एकाकारता से हम जिन्हें वंदन करते हैं उन्हें तिखुत्तो के पाठ से भी वंदन करते हैं। तिक्खुत्तो के पाठ में आगे उनके गुणों का वर्णन किया गया है– सक्कारेमि, सम्माणेमि... आदि। इस प्रकार काया के साथ उस विधि को साधने का प्रयास किया गया है। यह नहीं कि गुरु यहां पर विराज रहे हैं और हम दूर से ही वंदन करते रहें। मन स्थिर बने, वचन से गुणानुवाद हो और काया से झुककर या काया को झुकाकर वंदन करें। न अधिक दूर और न अधिक पास से वंदन करें। गुरु का साढ़े तीन हाथ क़ा अवग्रह होता है। उस साढ़े तीन हाथ के क्षेत्र में, बिना आज्ञा

के प्रवेश करना वर्जित है। उसका भी कारण यह बताया गया है कि हमें पता नहीं होता कि किस समय गुरु किस भाव से विराजमान हैं– उनकी कब क्या साधना चल रही होती है। लगभग साढ़े तीन हाथ का क्षेत्र गुरु का अपना माण्डला है अतः उसमें प्रवेश से पूर्व गुरु की अनुमति लेनी चाहिए। बिना आज्ञा के उस माण्डले में प्रवेश नहीं करना चाहिए जिससे गुरु की साधना-आराधना में हमसे कोई व्यवधान उत्पन्न न हो।

इसका अच्छा उदाहरण गुजरात में आ. भगवन् (श्री नानेश) के विचरण के समय देखा गया। जो लोग जानते थे, वे गुजराती बोलते थे 'तमारे साता छे, हूँ वंदन करवा इच्छु छूं' अर्थात् आपके साता है– मैं वंदन करना चाहता हूँ। ऐसे में आप कैसा विचार करेंगे? अर्थात यदि आपके साता हो तो मैं वंदन करना चाहता हूँ। हम कई बार उनके गोचरी करते अथवा पानी आदि के लिए जाते समय अवसर की अवहेलना कर जाते हैं तब यद्यपि अवहेलना के भाव नहीं होते हैं पर विधि का ज्ञान नहीं होने से वैसी स्थिति बन जाती है। गुरु किसी आवश्यक कार्य में लगे हों या आवश्यक कार्य से जा रहे हैं तो वे रुकेंगे नहीं और हमें विचार आयेगा कि गुरुजी ने वंदन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि हम गुरु पद की महत्ता को जान रहे होते हैं, उसके प्रति हमारी दृढ़ आस्था भी होती है, फिर भी कभी-कभी ऐसी परिस्थिति में मन में अन्यथा विचार आ जाते हैं। ऐसा न हो, इसके लिए विधि की जानकारी आवश्यक है।

विधिपूर्वक जब गुरु के माण्डले/अवग्रह में प्रवेश करने के लिए संकेत मिल जाता है तब वंदनपूर्वक चरण-स्पर्श किया जाता है। चरण-स्पर्श भी दो तरह से किया जाता है। एक तो हाथ से और दूसरा मस्तक से। इस संबंध में यह माना जाता है कि हम गुरु के दाहिने पैर का स्पर्श दाहिने हाथ से करें और बाएं पैर का स्पर्श बाएं हाथ से करें। ऐसा करने पर ही उनकी शक्ति का प्रवाह हमारे भीतर हो पाएगा। बहनें विवाह आदि प्रसंगों पर पीठी चढ़ाते समय हाथ पर हाथ रखकर, परस्पर विपरीत दिशा में हाथ रखकर

अर्थात् हाथों का क्रॉस × बनाकर पीठी चढ़ाती हैं। यह ऐसे ही नहीं किया जाता, इसके पीछे भी तर्क है। उस प्रकार विचारों का, शक्ति का प्रवाह बनता है। प्रयोजन चाहे कुछ भी हो, पर जो जिस दिशा का अंग है उसी दिशा के अंग से स्पर्श होने पर वह प्रवाह बनता है जो विचारों एवं शक्ति को प्रभावित करता है।

चरण-स्पर्श यदि ललाट लगाकर करना है तो ललाट के किस भाग का चरणों से स्पर्श किया जाये, इसका भी विधान है। विधान यह है कि ललाट के तीसरे नेत्र के स्थान आज्ञाचक्र अर्थात् भृकुटी के मध्य भाग को अंगूठे से स्पर्श कराया जाये, इससे हमारा आज्ञाचक्र जाग्रत होता है। तीसरे नेत्र का यह स्थान, हमें ज्ञात है तिलक का स्थान होता है। तिलक लगाने से पहले अंगुली से टीकी लगाने का भी अर्थ है। टीकी लगाकर तिलक करने का तात्पर्य आज्ञाचक्र को जाग्रत करना है। उसे जगाया जाता है। चरण-स्पर्श करते समय अंगूठे के नाखून के नीचे के अग्रभाग से मस्तक को स्पर्श कराया जाता है जिससे हमारा आज्ञाचक्र जाग्रत होता है। अंगूठे में मस्तक के सभी केन्द्रों की चाबी होती है– एक्यूप्रेशर पद्धति में यह बात बतायी जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है जिससे गुरु के मस्तिष्क की शक्ति हमारे आज्ञाचक्र में प्रवेश कर जाये। शास्त्र में भी कहा गया है–

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए।।
हवइ किच्चाण सरणं, भूयाणं जगई जहा।।

विनय को स्वरूप जाकार वंदन के स्वरूप को जानकर, समझकर जो वंदन करता है वह मेधावी बन कर लोक में कीर्ति अर्जित करता है और स्वयं गुणों का आगार बन जाता है। यदि वंदन की सही शैली अपना ली जाती है और साधना में अपने आप को झुका लिया जाता है तो आध्यात्मिकता की ज्योति जगमगा उठती है और गुरु की कृपा भी सहज उपलब्ध हो जाती है– गुरु प्रसन्न हो जाता है।

'पुज्जा जस्स पसीयंति' गुरु के प्रसन्न होने का तात्पर्य क्या है तथा उससे क्या लाभ होता है, वह निम्न दृष्टांत से स्पष्ट हो जाता है। एक नट अत्यंत कला-निपुण था। वह मंच पर अपनी कला दिखाता और वाहवाही लूटता था। नट नंगी तलवार को ऊपर आकाश में उछालकर उसे नाक के अग्रभाग पर नोक के सहारे खड़ी कर लेता था। बारह वर्षों से निरन्तर वह यह खेल दिखा रहा था। उसका करतब देखकर सभी आश्चर्यचकित होकर उसकी प्रशंसा करते थे। एक बार एक वृद्ध पुरुष ने कहा– 'धन्य है इसका गुरु जिसने इसे यह विद्या सिखाई।' नट को बात जंची नहीं। यह सुनते ही वह चौंका कि मेरा नाम तो लिया नहीं और गुरु का नाम लिया। करतब तो सारा मैं दिखाता हूँ और ये गुरु के गुणगान कर रहे हैं। आखिर उससे नहीं रहा गया और उसने जिज्ञासा प्रकट कर दी– 'गुरु का नाम क्यों? प्रयास तो मैं कर रहा हूँ। प्राणों की बाजी लगाकर खेल मैंने दिखाया पर आपने मेरी प्रशंसा नहीं की।' वृद्ध ने कहा– 'भाई गुरु तो गुरु ही है।' नट बोला– 'नहीं, ऐसा नहीं है, जो कुछ कर रहा हूँ मैं कर रहा हूँ।' वृद्ध समझ गया कि यह अहं का शिकार हो चुका है। उसने कहा– 'भाई ऐसा नहीं है तो एक बार फिर यह करतब करके दिखा दो, मैं तुम्हारी प्रशंसा कर दूंगा'। नट ने कहा, 'इसमें क्या है, यह तो मैं रोज ही दिखा रहा हूँ' और तैयार हो गया पुनः खेल दिखाने के लिए। 'यह लो' कहते हुए उसने पुनः क्रिया की और नाक सामने कर दी। परन्तु इस बार तलवार नाक चीरकर नीचे गिर गयी। यह गुरु की आशातना का प्रबल प्रमाण था। नट को सत्य का बोध हुआ और अपनी गलती का एहसास भी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरु की प्रसन्नता अथवा कृपा हमारे लिए सुरक्षा का, कल्याण का काम करती है। पर अहंकार में डूबा अहंकारी व्यक्ति इस कल्याण की अवमानना करता है। परिणामस्वरूप निराशा और कठिनाईयों में फंस जाता है। संसार की मोह-माया के वशीभूत ऐसा अहंकारी अपना सारा जीवन भटकने में ही बिता

देता है। गुरु इस भटकन से मनुष्य की रक्षा करता है इसीलिए उसे महान् कहा जाता है तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश की गरिमा से उसे मण्डित किया जाता है। उसके लिए कहा गया है–

'गुरु दीपक गुरु चांदणो, गुरु बिन घोर अंधार'

गुरु की उचित रूप में वंदना करने से आध्यात्मिक उन्नति के लिए गुरु द्वारा जो संबोधन दिया जा रहा है, ज्ञान दिया जाता है, वह मन-मस्तिष्क से होकर सीधा हृदय में चला जाए। फिर उस ज्ञान अथवा शक्ति को कोई वहां से निकाल नहीं सकता। परन्तु गुरु से यह सब पाने हेतु पात्रता अर्जित करनी पड़ती है। पात्र योग्य हो तब ही पदार्थ उसमें टिक पाता है, यह बात हम सब जानते हैं। उदाहरणार्थ यदि दूध रखने का पात्र सही नहीं हो तो उसमें दूध भी सुरक्षित नहीं रह पाएगा। यदि कोई खट्टी वस्तु उसमें पहले रखी गई हो तो दूध फट जायेगा। इसी प्रकार सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही सुरक्षित रह सकता है। अन्य धातु के पात्र में वह फट जाता है अथवा यूं भी कहा जाता है कि पात्र फट जाता है। जलती मशाल यदि बंदर के हाथ में दे दी जाये तो वह चारों तरफ आग लगा देगा। शास्त्रों में भी कहा गया है– योग्य पात्र देखकर ही उसे आगम ज्ञान दिया जाना चाहिये अन्यथा वह विनाशकारी ही सिद्ध होता है।

आचारांग सूत्र आचार अथवा आचरण की इसी दृष्टि से महिमा प्रतिपादित करता है। इस प्रकार सही अथवा उपयुक्त आचारचर्या के प्रति हमारी दृष्टि विकसित कर वह दीर्घ चक्षुओं से लोक को देखने की क्षमता भी प्रदान करता है। परन्तु इस प्रकार की क्षमता प्राप्त करने के लिए पात्रता का विकास प्रथम आवश्यकता है।

8. अतिक्रमण/आक्रमण और प्रतिक्रमण

संभव देव ते धुर सेवो सवेरे, लइ प्रभु सेवन भेद।।
सेवन कारण पहली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद।।

कवि आनंदघनजी अपनी अन्तर भावना को प्रभु के चरणों में व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैं आपकी उपासना करना चाहता हूँ पर कैसे करूँ। आप वीतराग हैं और वीतराग की उपासना के लिए सर्वप्रथम अभय बनना जरूरी है। जो वीतराग-उपासक आगे बढ़ता है उसे अभयशील बनना होता है। मैं भी अभयशील बनना चाहता हूँ, परन्तु ज्ञान चक्षु उन्मीलित नहीं हुए हैं। अभी भय की स्थिति मेरे अन्दर बनी हुयी है और मैं सातों भयों से आक्रान्त हूँ।

कवि आनंदघन भयभीत क्यों हो रहे हैं? हम अपने आप से सोच लेते हैं कि हम भयभीत नहीं हैं जबकि वास्तव में हम भयभीत होते हैं। केवल मनोबल बढ़ाने के लिये ही हम अपने अंतर के भय की अनदेखी करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है। इसके अच्छे परिणाम भी हो सकते हैं और बुरे भी। संत तो उस भय को इसीलिये स्वीकार भी कर लेते हैं जो प्रभु चरणों में प्रीति दृढ़ करे। कबीरदासजी ने तो इसीलिये डरते रहने की बात कही है क्योंकि यह डर उन्हें मूढ़ता से बचाता है–

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई।।
तीनि बार रूंधै इक दिन में, कबहूँ न खता खबाई।।
या मंजारी मुगध न मानै, सब दुनिया डहकाई।।
लाखों माँहि तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखाई।।
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।।

भयभीत रहने से कम से कम अनुचित कर्म से संकोच तो हम करते ही हैं और इस कारण कई बार उनसे उबर भी जाते

हैं। जो भी हो, इस भय का कारण है– मन की चंचलता। यह चंचल चित्त ही व्यक्ति को इस प्रकार भटका देता है कि व्यक्ति निर्णयक्षमता से दूर हो किंकर्तव्यविमूढ़ता की अवस्था में पहुँचकर प्रायः अशान्त बन जाता है। मन के अध्यवसाय चंचल हैं तो चंचल चित्त की वे अवस्थाएँ कहाँ ले जाकर गिराएँगी, नहीं कहा जा सकता। यही भय का कारण है।

इस स्थिति पर आगमिक संदर्भ में भी विचार करें। प्रभु महावीर विराज रहे हैं। गणधर गौतम स्वामी प्रभु चरणों में पहुँचते हैं और प्रभु की उपासना करके निवेदन करते हैं– 'भगवन्! आप जैसे उपकारी एवं पारदर्शिता के धनी द्रष्टा के विराजते हुए भी जगत् के प्राणी दुःखी हों, उनमें क्लेश की भावना विद्यमान हो, यह कैसी विडम्बना है? आप जैसे सफल चिकित्सक के होते हुए भी यदि लोग रोगग्रस्त होते हों तो आँच आप की क्षमता पर ही आएगी। अतः कोई ऐसा सूत्र दीजिये, कोई ऐसी औषधि बताइये जिससे सांसारिक प्राणी रोग के भय से मुक्त हों, परम शांति का अनुभव कर सकें। 'प्रभु महावीर ने स्पष्ट किया कि– जगत् के जीव दुःखी हैं– ईर्ष्या, द्रोह व क्रोधादि वैभाविक भावों से तथा चित्त की चंचलता से। तदुपरान्त अनंत-अनंत करुणा के महासागर महाप्रभु महावीर ने प्राणी जगत् के समक्ष सुख के अथवा रोग-मुक्ति के कई साधन बताये। परन्तु अपने अहम् में भटके मनुष्य ने उन साधनों को तो भुला दिया और प्रमाद के मार्ग पर भटक गया। समझ के ऐसे ही फेर के कारण वह परिवार में, समाज में, राष्ट्र में परस्पर संघर्ष उत्पन्न कर रहा है। तब हम विचार करें, आज की सबसे बड़ी बीमारी क्या है? आज अधिकांश व्यक्तियों की बीमारी है– मति भ्रमणा, समझ का फेर। ऊपर से भले ही ऐसा न दीखता हो परन्तु वास्तविकता यह है कि समझ के फेर के कारण ही पारिवारिक झगड़े होते हैं, पिता-पुत्र में, सास-बहू में, भाई-भाई में कलह होता रहता है। इस कलह अथवा झगड़े का कारण गलत समझ ही है।

इस गलत समझ का आज एक विशिष्ट कारण और उत्पन्न

हो गया है। वह कारण है– माडर्न दिखने की होड़। इस होड़ के चलते ही हमने अपनी जीवनचर्या, दिनचर्या और आदतों को वदल लिया है और पाश्चात्य जीवनशैली का अंधानुकरण करने लगे हैं। परिणाम यह हुआ है कि खान-पान की वस्तुओं की ही नहीं, उन्हें ग्रहण करने की अपनी आदतें भी हमने वदल ली हैं। पहनावा, भाषा और शिष्टाचार के तरीके ही हमने नहीं बदले, उस संस्कृति को भी दूषित कर लिया जो बड़े-छोटे के बीच परस्पर व्यवहार के रूप में यहाँ पनपी थी। अब तो संबंध ही औपचारिक नहीं हुए हैं उनके निर्वाह में भी औपचारिकता आ गई है जिसके कारण उनके बीच मधुरता, अपनत्व और स्नेह की सहज पैठी भावनाओं का भी विनाश हुआ है। इस स्थिति पर किंचित् विस्तार से दृष्टिपात करना अपेक्षित है।

आज चाय, नाश्ता और भोजन डाइनिंग टेबल पर लिया जाता है। पिता-पुत्र साथ बैठते हैं। एक समय बाजोट लगता था, उस पर थाल होता था। आज आराम से बैठ कर खाने के लिए लगाया जाने वाला बाजोट उठ गया है, थाल उठ गया है और अविधि से बैठा जाने वाला यह डाइनिंग टेबल आ गया है। समय बदल गया है जिससे बड़े और आदरणीय जनों के प्रति छोटों के मन में जो सम्मान की भावनाएँ होती थीं वे भी इस डाइनिंग टेबल संस्कृति ने बदल डाली हैं। इसी के साथ चालू हो गया है 'बफे सिस्टम'। ये सब पाश्चात्य संस्कृति की देन हैं। भारतीय संस्कृति तो उच्च कोटि की भावनात्मक संस्कृति है जिसमें समूह-रूप से साथ बैठकर प्रेमपूर्वक भोजन किया जाता है और वात्सल्य, स्नेह व आदर से परोसा जाता है। पहले मनुहार होती थी– थोड़ा और लीजिये और लेना पड़ेगा, आदि। कितनी आत्मीयता व कैसा सौहार्द रहता था ऐसी मनुहार में। कभी-कभी तो अपने हाथों से ही मुँह में कवल (ग्रास) दे दिया जाता था और कभी-कभी नहीं-नहीं करने पर भी और लेने की मनुहारें करते रहते थे। तब खाने का एक अलग ही आनन्द था एवं अनोखी तृप्ति मिलती थी ऐसे व्यवहार से। पर

आज इस आनंद को भी यह 'बफे सिस्टम' लूट रहा है। आज यह स्थिति है कि टेबल पर भोजन सामग्री रखी रहती है– चाहिये तो लीजिये, नहीं तो मत लीजिये, मेजबान को कोई चिन्ता ही नहीं है– जैसे मेहमान पेट भरने जाता है, स्नेह, सद्भाव और आदर से भोजन करने नहीं। जरा विचार कीजिये कि किस रूखी औपचारिकता और संस्कारहीनता की ओर हम अग्रसर हो रहे हैं? तर्क यह दिया जाता है– इतने लोग आ जाते हैं, उन्हें जिमावें कैसे? परस्पर सहयोग की स्थिति रहे तो विशाल से विशाल आयोजन सफलतापूर्वक सम्पन्न किये भी जा सकते हैं पर आज हमारे सोच में ही अंतर आ गया है। पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव, उसकी छाप हमारे चिन्तन और व्यवहार में स्पष्ट झलक रही है।

संबंधों की आज की स्थिति पर भी विचार करें। एक पिता-पुत्र डायनिंग टेबल पर साथ-साथ बैठे 'ब्रेकफास्ट' ले रहे थे। इतने में अन्दर से आवाज आयी– कप-प्लेट के टूटने की। पिताजी ने कहा– 'गिरकर कुछ टूटने की आवाज आयी।' पुत्र शीघ्र ही बोल उठा– 'हाँ, माताजी के हाथ से कप-प्लेट टूटा है, यह उसकी आवाज है।' पिता ने पूछा कि 'तुम्हें कैसे मालूम कि यह आवाज तुम्हारी माँ के हाथों कप-प्लेट टूटने की है? तुम्हें ऐसा कौन-सा विशेष ज्ञान हो गया है?' पुत्र कहने लगा, 'पिताजी, यदि माँ के हाथ से न फूटकर अन्य किसी के हाथ से टूटता तो इस आवाज के साथ एक और आवाज होती।' अर्थात् डाँट-फटकार की आवाज भी आती। सास-बहू के बीच अमधुर संबंधों के बीच पनपी यह कितनी सटीक टिप्पणी है। बन्धुओ! परिवार में जो पारस्परिक क्लेश होता है, वह इसी समझ के फेर के कारण होता है। क्या वह सास कभी बहू नहीं थी? गलती किससे नहीं होती? परन्तु पारस्परिक सद्भाव की स्थितियाँ ही आज समाप्त हो गई हैं और संबंधों में कटुता के विकास की स्थितियाँ बन गई हैं। यह सब समझ के फेर का परिणाम ही है। देखिये, हम कहाँ से कहाँ भटक गये हैं?

इसीलिए प्रभु महावीर कहते हैं– प्रतिक्रमण। धातु के साथ उपसर्ग लगने पर अर्थ में जो विशेषता आ जाती है वह उसी का एक रूप है। क्रमण के साथ आ 'उपसर्ग' लगने पर आक्रमण बन जाता है और 'अति' उपसर्ग लगाने पर अतिक्रमण बन जाता है। हम सोचें कि हम कहीं कोई आक्रमण या अतिक्रमण तो नहीं कर रहे हैं?

सत्य तो यह है कि हम पग-पग पर आक्रमण और अतिक्रमण करते चले आ रहे हैं– प्रकृति के साथ, वस्तुओं के साथ, पर्यावरण के साथ और न जाने किस-किस के साथ। पर जब हम पर आक्रमण होता है तब हम सोचते हैं कि यह क्यों हो गया और दोष दूसरों को देने लगते हैं।

शीतलप्रसाद क्रोध का पुतला था। वह 'कुंभार कुंभारी सूं पूग नहीं आवे जणे गधेड़ी रा कान खींचे' इस मनोवृत्ति वाला था। ऑफिस में उच्च अधिकारी से झिड़की खाये हुए घर आया। पत्नी ने आदर के साथ स्वागत किया– पधारिये, आप जब तक कुछ थकान उतारलें, मैं भोजन बना देती हूँ। बस, शीतलप्रसाद को ऑफिस का गुस्सा उतारने का बहाना मिल गया। तमतमा गया। बेशर्म! दिन भर घर में बैठी गद्दे और सोफे को तोड़ती रहती है। ऑफिस से थका-हारा आता हूँ, रोटी तक का सुख नहीं। कब बनायेगी, कब खाऊँगा? जल्दी कर, निठल्ली कहीं की!

पत्नी श्रीमान् से ठीक विपरीत स्वभाव वाली थी। उसने धीरे से कहा– आज कुछ मेहमान आ गये, उनकी आवभगत में अन्य कामों में विलम्ब हो गया। मैं अभी भोजन बना देती हूँ। वह तुरन्त भोजन बनाने में जुट गई। कठोर वचन सुन कर पत्नी के मानसिक द्वंद्व तो मच ही गया। उसी द्वंद्व में उसे पता ही नहीं चला कि सब्जी में दो बार नमक डाल दिया है। भोजन तैयार हो गया। पति को भोजन परोसा।

क्रोधाविष्ट शीतलप्रसाद खाने बैठा। प्रथम ग्रास ही उसके क्रोध

को द्विगुणित कर गया। सब्जी की कटोरी उठाई और पत्नी के सिर पर दे मारी। अन्धी! सब्जी में नमक दुगुना डाल दिया, अक्ल ठिकाने है या नहीं? पत्नी यह सब सुनकर भी शान्त बनी रही। भारतीय नारी सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति जो होती है। वह एक किनारे जा कर खड़ी हो गई। श्रीमान् ने रोटी तोड़ कर दाल में भिगोई! दूसरा कवल मुँह में डाला तो पता लगा कि दाल एकदम अलूंणी–बिना नमक की है। शीतलप्रसादजी उठे, पांव फटकारते हुए निकल गये घर से।

मुहल्ले में दोस्तों के बीच कुछ समय गुजारा। पेट कब मानने वाला था? उसने अपनी मांग दोहराई। शीतलप्रसाद होटल में गया और खाना खा लिया। घर के शुद्ध-स्वच्छ भोजन की तरह होटल के भोजन में वह रस नहीं आया परन्तु क्रोध में करता भी क्या?

घर में किसी भी प्रकार की अनबन होने पर पेट भरने के लिए होटल ही तो आश्रय स्थल होता है, चाहे भोजन रसहीन ही क्यों न हो। कहते हैं कि जिन पुरुषों को गुस्सा आता है, उन्हें भूख ज्यादा लगती है और महिलाओं को गुस्सा आने पर भूख कम लगती है। आज वैज्ञानिक इसकी खोज कर रहे हैं। पर अभी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं कि ऐसा क्यों होता है? ऐसा भी होता है और पति-पत्नी के बीच वैसा भी होता है, यह भावना के अतिक्रमण का परिणाम है।

शासन प्रभावक ईश्वरचन्द्रजी म.सा. सौगंध दिलाया करते थे 'आज खड़े-खड़े नहीं खाना', 'होटल में नहीं खाना', 'बाजार में खड़े-खड़े नहीं खाना' आदि। ये प्रत्याख्यान दिखने में छोटे और महत्त्वहीन लग सकते हैं परन्तु इनकी बड़ी महिमा है। बाजार में खाकर कागज फेंक दिया, कितनी चींटियां आ जायेंगी? कितने लोग उन पर पांव रखकर निकल जायेंगे? कितनी हिंसा होगी? क्या यह सोचा जाता है? फिर इस प्रकार गंदगी ही नहीं फैलती, पर्यावरण भी प्रदूषित नहीं होता। खड़े-खड़े खाना स्वास्थ्य विज्ञान

की दृष्टि से भी हानिकारक है।

एक तरफ हम अहिंसा-पालन की बात करते हैं, दूसरी तरफ खड़े-खड़े खाना खाते हैं, जूठा डालते हैं, हिंसा करते हैं और पर्यावरण बिगाड़ते हैं, यह सब अतिक्रमण है। क्योंकि हम ऐसी स्थिति में स्व-पर की आत्मा के विचार से हटकर चलते हैं। यह शारीरिक रोग ही नहीं, सामाजिक रोग बढ़ाने की स्थिति है।

प्रभु महावीर से तो गणधर गौतम जिस रोग से मुक्ति के लिए सूत्र पूछ रहे थे वह क्या मात्र शारीरिक रोग था? नहीं, वे तो भव रोग के उपचार की बात पूछ रहे थे। प्रभु ने कहा– 'गौतम! सूत्र है मेरे पास।' उन्होंने जो सूत्र बताया क्या वह कोई ऐसा-वैसा सूत्र था? नहीं, वह आत्मा को रोगमुक्त करने का सूत्र था। आज हमारे सामने अनेक समस्याएँ हैं। भगवान् महावीर तो केवलज्ञानी थे। वे तो आज के युग को भी देख रहे थे। उन्हें तो ऐसी औषधि का विधान करना था जो सभी स्थितियों एवं कालों में प्रभावी हो। यही नहीं, उन्हें यह उपचार विधि केवल गणधर गौतम को ही नहीं बतानी थी, न उस युग के प्राणियों के लिये ही बतानी थी। उन्होंने जो दिया है वह सभी देशों और कालों के प्राणियों के लाभार्थ दिया है। और वह सूत्र है– प्रतिक्रमण का। प्रतिक्रमण अर्थात् अतीत की ओर लौटना और 'अप्पाणं वोसिरामि' अर्थात् अपने आपको पापों से अलग करना।

प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रमण करने का साधुओं को निर्देश दिया गया है। प्रतिक्रमण भी भाव-प्रतिक्रमण होना चाहिये। वह केवल द्रव्य शब्दों तक ही सीमित न रहे। भाव प्रतिक्रमण नहीं है तो कुछ नहीं है– कोई मतलब ही नहीं है प्रतिक्रमण का और बिना प्रतिक्रमण के जीवन चलने वाला नहीं है। कोई कहे– मैं नास्तिक हूँ। प्रतिक्रमण क्या होता है– न मैं जानता हूँ, न मानता हूँ। पर इससे क्या, प्रत्येक व्यक्ति को कार्य स्थल से लौटना तो होता ही है। साहब को भी संध्या समय बाजार बंद होने पर अपनी

ऑफिस बंद करके घर लौटना था। सुबह अतिक्रमण कर गुस्से में भले निकलें, पर वापस घर आना प्रभु (भगवान्) महावीर का प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण किये बिना मानसिक शांति प्राप्त नहीं हो सकती। जितना अधिक हमारा भाव-प्रतिक्रमण होता जायेगा, शांति उतनी ही गहराती जायेगी।

महासती सीता के सामने लक्ष्मण-रेखा खिंची हुई थी। वह नहीं चाहती थी कि उस रेखा का अतिक्रमण करें पर वह दान देना भी चाहती थीं। रावण का वह जोगी रूप उनके द्वार पर खड़ा रहा और बोला कि रेखा के बाहर आकर दी गयी भिक्षा ही ग्रहण करूँगा। सरलहृदया सीता नहीं समझ सकीं इस माया को। अतः अतिक्रमण किया लक्ष्मण-रेखा का और रावण ने आक्रमण कर दिया। जैसे ही रेखा के बाहर कदम रखा, अतिक्रमण हो गया और परिणाम में आक्रमण हो गया।

हम एकता की बात करते हैं। एकता होनी चाहिये, मैं कहता हूँ। कौन ऐसा होगा जो एकता नहीं चाहता हो। ये सुन्दर शब्द किसे अच्छे नहीं लगते हैं? सभी चाहते हैं, सभी की अन्तर की आवाज है–

संगठन की वीणा बजने दो,
मुझे मधुर-मधुर धुन सुनने दो।। संगठन....

संगठन की वीणा अर्थात् एकता। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो एकता नहीं चाहता हो। हम एकता चाहते हैं पर उसका धरातल क्या हो, यह भी हमें समझना होगा। जब विरोधी राजनीतिक दलों के नेता एक साथ बैठ सकते हैं तो धर्म गुरु एक क्यों नहीं हो सकते? राजनेताओं के धरातल भले ही न हों परन्तु धर्म गुरुओं के धरातल अवश्य होते हैं। समान धरातल पर कोई कार्यक्रम हो तो वह किसी न किसी रूप में हितकारी हो सकता है।

हमारी एकता किसी सैद्धांतिक धरातल पर ही हो, यह अपेक्षित है। ऊपरी एकता से कोई मतलब नहीं निकलता है। एक रथ में,

जिसमें चार घोड़े जुते हुए हों और चारों ही चार भिन्न दिशाओं में दौड़ने वाले हों, तो ऐसे रथ में बैठना नितांत मूढ़ता ही होगी। साधु जीवन की मर्यादा अखण्डित रख कर ही एकता का चिंतन होना चाहिए तभी हम अतिक्रमण व आक्रमण से बच सकते हैं। यदि साधु जीवन में रह रहे हैं तो वहाँ के नियमों का अतिक्रमण नहीं होने देना है। भगवान् की जो लक्ष्मण-रेखा है उसी में हमें चलना है। समुद्र मर्यादा में रहता है तभी उसकी गरिमा है। यदि समुद्र मर्यादा छोड़ दे तो विश्व का क्या हाल हो, यह बताने की आवश्यकता नहीं। नदियां दो तटों के बीच बहती हैं तो उन से सिंचाई जैसे अनेक कार्य बनते हैं और विद्युत भी उत्पन्न की जा सकती है परन्तु यदि वे भी तटों को छोड़ दें तो विनाश की स्थिति बन जायेगी, जलाप्लावन हो जायेगा। इसी प्रकार साधु और श्रावकों को अपनी-अपनी मर्यादाओं के तटों में रहना चाहिए।

शास्त्रों में विवरण आता है– भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा– भगवन्! लवण समुद्र की बेलाएं सोलह हजार योजन ऊपर चढ़ती हैं और ऊंची-ऊंची लहरें उठती हैं बहुत सारे देवता हर समय उन्हें दबाते रहते हैं। भगवन्! क्या उन देवताओं के दबाने से पानी दबता है?' भगवान् ने कहा– हे गौतम, इतने देवता इतने ऊंचे उछाले मारते हुए पानी को दबाते रहते हैं इसीलिए यह जम्बू द्वीप बच पाया है, ऐसी बात नहीं है। यह तो भरतक्षेत्र, एरावत क्षेत्र, महाविदेह क्षेत्र में रहने वाले चतुर्विध संघ के त्याग व तप से दबा हुआ है। उनके त्याग से इतने विशाल लवण समुद्र का पानी भी जम्बू द्वीप में प्रवेश नहीं कर पा रहा है। वह उन त्यागियों/मुनियों के प्रभाव के कारण रुका हुआ है अन्यथा उन्हें रोकना देवों के वश की बात नहीं है। तब स्पष्ट है कि यदि श्रमण ही अपनी मर्यादा छोड़ दें तो वे अहिंसा आदि के पालक भी कहाँ रहेंगे और फिर वैसी स्थिति में साधु नाम धराने लायक भी उनके पास कुछ नहीं रह जायेगा। आज विशाल स्तर पर अतिक्रमण हो रहा है। अब हमें उसका प्रतिक्रमण भी उसी स्तर पर करना होगा। भगवान्

महावीर ने भी एक रेखा खींची है, वह रेखा है अहिंसा की। हम साधुचर्या में अपना नाम लिखा रहे हैं परन्तु चर्या के नाम पर शून्य हैं तो यह केवल पानड़ी में नाम लिखवाकर कुछ भी नहीं देने जैसी बात ही होगी।

साधुमार्ग अरिहंतों का मार्ग है तथा उससे कई मार्ग प्रवाहित हो सकते हैं। वह चाहे जिन-कल्प या स्थविर-कल्प रूप हो चाहे किसी अन्य कल्पातीत रूप में, सबको मंजिलें तो साधुमार्ग से ही मिलेंगी। इस साधुमार्ग में भी एकता होनी चाहिये। इसी एकता की प्राप्ति हेतु सादड़ी में वृहत्साधु सम्मेलन हुआ था, श्रमण संघ का निर्माण हुआ था और उसके संचालन का भार संपूर्ण अधिकारों सहित श्री गणेशाचार्य को सौंपा गया था। उनका कहना था कि मेरे स्वप्नों का जो श्रमण संघ बना है उसकी एकता अक्षुण्ण रहनी चाहिये।

एकता की यह बात ही प्रमुख है लेकिन एकता सिद्धांतों के धरातल पर होनी चाहिये। यह भी समझ लेना चाहिये कि एकता की बात अंधविश्वास नहीं है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जिसका एकता में विश्वास नहीं, उसका अहिंसा में विश्वास नहीं। यह हास्यास्पद बात है। क्या जहाँ-जहाँ एकता है वहाँ-वहाँ अहिंसा है? क्या एकता और अहिंसा का अन्योन्याश्रित संबंध है? यदि ऐसा हो तब तो चोर, डकैत आदि में एकता हो ही नहीं सकती क्योंकि उनमें अहिंसा की भावना नहीं होती जबकि उनकी एकता की भावना सभ्य व अहिंसक कहलाने वाले अनेक वर्गों की एकता से कहीं अधिक सुदृढ़ होती है। अतः यह कोई नियम नहीं कि एकता मात्र अहिंसावादियों में ही हो सकती है। एकता समान धरातल पर होती है। सैद्धांतिक धरातल यदि एक नहीं है तो वहां एकता अधिक समय तक टिकी नहीं रह सकती। एकता के हिमायतियों को चाहिए कि सैद्धांतिक धरातल को व्यवस्थित करते हुए उसके अनुसार ही व्यवहार करें। स्थानकवासी समाज की एकता के लिए

9. करम गति टारे नाहिं टरै

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं के उपकार के लिए जो आत्मिक पाथेय प्रदान किया है उसकी महिमा अपरम्पार है। यह पाथेय उन्होंने केवल ज्योति प्राप्त करने के बाद ही देशना के रूप में प्रदान किया। उससे पूर्व प्रभु मौन साधना में लीन रहे और साधना तथा स्वाध्याय के द्वारा स्व-स्वरूप को, सत्य को जानने का प्रयास करते रहे। स्वाध्याय का तात्पर्य यह नहीं कि वे ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। उन्होंने तो आत्मिक स्थिति में स्थिर होकर चिन्तन-मनन के माध्यम से कैवल्य को प्राप्त किया था। यही वह अनन्त ज्ञान है जिसके द्वारा सब-कुछ जाना जा सकता है। हस्तरेखाओं की भांति समस्त जगत् का साक्षात्कार इससे सम्भव है। ऐसा सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् प्रभु ने उपदेश देना प्रारम्भ किया ताकि भव्य आत्माएँ भी उस शांति और सुख के पथ पर प्रयाण कर सकें। जिस पर वे स्वयं चले थे। यह उसी प्रकार की कृपा थी जैसी किसी गरीब परिवार में भोजन आदि सामग्री का अभाव देखकर कोई दयार्द्र पुरुष उसकी भलाई के लिए उदार दान देकर उसके अभाव दूर कर दे। प्रभु ने भी दिव्य दृष्टि से संसार के दुःखी प्राणियों को देखा तो उनका मानस करुणा से आप्लावित हो गया और उन्होंने दुःखी प्राणियों के हितार्थ दिव्य देशना का अजस्र प्रवाह उन्मुक्त कर दिया।

समस्त मानव जाति के प्रति उनका यह उपकार किसी भी प्रकार की एषणा से पूर्णतः मुक्त भी था, उसी प्रकार जिस प्रकार वृक्षों के फल और सरिता का जल बिना किसी कामना के सहज रूप में सभी के लिये उपलब्ध होता है। त्याग के इस रूप को समझने की आवश्यकता है। यों तो भारतीय संस्कृति और अध्यात्म-दृष्टि निष्काम कर्म के आदर्श की प्रतिपादक रही है तथापि उ... अवहेलना अधिक होती है, पालना कम। आज तो स्थिति

गई है कि व्यक्ति कर्म और कर्म के फल की ओर से पूर्णरूप से उदासीन हो गया है। आत्मतत्त्व की वास्तविकता तथा कर्मों के संचय में पूर्ण रूप से आस्थाहीन होने के कारण वह सोचता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उसे कौन देखने वाला है। वह यह भूल जाता है कि–

'पाप छिपायां ना छिपे, छिपे न मोटा भाग।।'
दाबी–दूबी ना रहे, रूई लपेटी आग।।'

इस प्रकार जब कर्मों का उपार्जन हो जाता है तब उनकी फलानुभूति भी अनिवार्य हो जाती है। शास्त्रकारों ने कहा है–

'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'

अर्थात् कृत कर्मों के भुगतान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती है। व्यक्ति यदि कर्मों का बोध प्राप्त करके उनसे बचता है तभी उसका कल्याण हो सकता है। कर्म किसी को छोड़ने वाले नहीं हैं। चाहे दुनिया की नजरों से आप छिपकर ही कर्म करें पर कर्मों की पैनी नजरों से बचना मुमकिन नहीं है। यह तो अस्तित्व का नियम है परन्तु व्यवहार में भी इसकी अवहेलना हो सकती है और यदि न्यायकर्त्ता निष्पक्ष है तो इस अवहेलना से भी शिक्षा मिल जाती है। इस सम्बन्ध में एक कथा है।

एक सेठ के घर एक किसान पहुँचा। उसने सुन रखा था कि सेठजी अपना कुआँ बेचने वाले हैं। उसने विचार किया कि यदि मैंने कुआँ खरीद लिया तो खेत के लिए पानी की व्यवस्था हो जाएगी और पैदावार भी अच्छी होगी। मेरा जीवन सुखी हो जायेगा। अपनी भावना उसने सेठ के सामने व्यक्त कर दी। सेठ के दिमाग में उसके भोलेपन का फायदा उठाने का विचार आया। वह बोला– पाँच हजार नकद देने पड़ेंगे, तभी मैं कुआँ तुम्हें बेचूँगा। किसान ने प्रस्ताव मंजूर कर लिया और निर्धारित राशि उसे सौंप दी। अगले दिन वह चड़स और बैल लेकर कुएँ पर पहुँचा। ज्योंही

वह कुएँ से पानी निकालने को उद्यत हुआ, सेठ ने जोर से कहा– 'क्या कर रहे हो?' वह वहाँ पहले से ही लाठी लेकर बैठा हुआ था। किसान ने कहा– 'पानी निकाल रहा हूँ। मैंने पूरे पाँच हजार रुपये देकर कुआँ खरीदा है।' सेठ ने तिरस्कारपूर्वक कहा– 'भाई, ठीक है। मैंने कुआँ तुम्हें बेचा है, पानी थोड़े ही बेचा है? तुम पानी नहीं ले सकते।' किसान ने सर पीट लिया। वह बहुत दुःखी हुआ और काफी अनुनय–विनय भी की, पर चालाक सेठ नहीं पिघला। आखिर किसान ने राजदरबार में जाकर आपबीती सुनाई। राजा ने सेठ को बुलाया– 'पूछा तुमने किसान को कुआँ बेचा है?' सेठ ने कहा– 'हाँ हजूर कुआँ बेचा है।' प्रश्न हुआ– 'और पानी?' सेठ ने उत्तर दिया– 'नहीं, पानी नहीं बेचा है।' राजा ने किसान से कहा– 'भाई तुम पाँच हजार रुपये में सिर्फ कुएँ के मालिक बने हो, पानी पर तो सेठ का ही स्वामित्व है।' किसान ने सुना तो उसका दुःख और बढ़ गया। वह न्याय के लिये आया था और यहाँ तो सरासर अन्याय हो रहा था। उसके मन में विचार आया कि अमीर अमीर का ही पक्ष लेते हैं, गरीब को न्याय नहीं मिल सकता। निराशा में वह तो मानो अपने स्थान पर जड़ हो गया। तभी उसने सुना, राजा सेठ से कह रहा था– 'सेठजी पानी तो आपका ही है पर कुआँ किसान का है। आपने उसके कुएँ में अपना पानी रख रखा है, इसके बदले में उसे किराये के पाँच हजार रुपये अदा करें और अपना पानी निकाल लें, अन्यथा आपको दूसरे की जायदाद पर अतिक्रमण करने का दण्ड भुगतना होगा।' यह न्याय सुनते ही सेठ को पसीना छूट गया। उसे अपने कर्म का फल यहाँ का यहीं मिल गया था।

कहने का तात्पर्य यही है कि कर्मों की गति नहीं समझ कर हमने न जाने कितने भव नष्ट कर लिये हैं। हमारी आत्मा को अपने कृत्य का भुगतान करना ही होता है और यही भुगतान हम प्रत्येक जन्म में करते आ रहे हैं। व्यक्ति भले सोच ले कि अपनी होशियारी से सब कर लूँगा। पर क्या कर्मों का फल नहीं भोगना

पड़ेगा? वह कुछ भी कर ले, किये हुए संग्रहीत कर्मों के फल का भुगतान तो उसे करना ही होगा। कहा जाता है– हमारे भीतर ऐसे सेल हैं, कोशिकाएँ हैं, जिनमें कर्मों की रिकार्डिंग हो जाती है। एक आकाश श्रेणी पर आने वाली कोशिकाओं में पच्चीस लाख संस्कार संग्रहीत हो जाते हैं। यह सब खेल कार्मण शरीर का है। यह सब कैसे होता है? जब विभाव दशा के बीच हलचल मचती है तो आत्मा जिन आकाश प्रदेशों में स्थित होती है उन्हीं प्रदेशों में रहे कर्म योग्य वर्गणाओं का संचय होता चला जाता है। फिर भी आत्मा नहीं सँभलती। कर्मों की इसी विचित्र गति को लक्ष्य कर कबीर ने कहा है–

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वशिष्ठ से पण्डित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता हरन, मरन दशरथ को, वन में विपति परी।

रात में तो राम को राज्य प्रदान करने की चर्चा चल रही थी, पर क्या घटित हो गया! उन्हें वनवास का आदेश दे दिया गया। राम की जगह कोई दूसरा होता तो सम्भव है बौखला जाता और युद्ध के लिए भी तत्पर हो जाता किन्तु सारी बात सुनकर भी राम ने प्रसन्नता व्यक्त की और सामान्य वस्त्र धारण कर जंगल की ओर रवाना हो गये। बीसवें तीर्थंकर श्री मुनि सुव्रत स्वामी के समय की यह घटना मानी जाती है। राम आज उस रूप में विद्यमान नहीं हैं पर राम का गुण-कीर्तन आज भी किया जाता है और उनकी कथा आज भी श्रद्धापूर्वक सुनी जाती है। उनके जितने भी प्रसंग आते हैं, वे धर्म-सूत्रों का संकेत करते हैं कि इस संसार का स्वरूप कैसा है! और इसमें किस प्रकार जीना चाहिये? इसीलिए राम को धर्म का प्रतिरूप कहा गया है।

हमारी आत्मा कैसे-कैसे दुःख भोग चुकी है तथा इन कर्मों की दशा से आत्मा का जैसा स्वरूप बना है– उसके संबंध में ज्ञानियों ने कहा है 'अप्पा नई वेयरणी'।

आत्मा को वैतरणी नदी के सदृश बताया गया है। नरक में इस आत्मा ने जिन दुःखों को प्राप्त किया, वे कर्मों के परिणामस्वरूप ही थे। कहा गया है–

'चित्त नदी उभयतो वहति, वहति पुण्याय पापाय च।'

अर्थात यह चित्त रूपी नदी पुण्य और पाप के रूप में बहती रहती है। अथवा चित्त रूप नदी में कर्मों की धारा प्रवहमान है। और इस दशा के कारण आत्मा मुक्ति को उपलब्ध नहीं कर पा रही है। कर्म-मुक्त होने के लिए ही ज्ञानियों ने शिक्षा सूत्रों से आत्मा को सम्बोधित किया है। आत्मा द्वारा सेवित कर्मों को ज्ञानियों से नहीं छुपाया जा सकता है अतः कर्म करने में पूरी सावधानी रहे, ताकि शिथिल कर्मों का शीघ्र भुगतान कर हम मुक्त हो सकें। सर्प जब बिल में प्रवेश करता है तो अपने शरीर को सीधा कर लेता है। उसी प्रकार संसार में चाहे हमारी गतिविधि आड़ी-टेढ़ी रही हो, पर मोक्ष-गमन के पूर्व उसे सरलता में आना होगा, तभी अपनी ऋजुमति से वह विमुक्ति का वरण कर सकेगा।



10. इअ सम्मत्तं मए गहियं

तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने गौतम स्वामी के एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि आराधना तीन प्रकार की होती है–

तिविहा आराहणा पण्णत्ता–
णाणाराहणा, दंसणाराहण, चरित्ताराहणा।

ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चारित्र की आराधना की यह बात भगवती सूत्र में बतायी गयी है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारंभ में ही उसका सूत्र प्रस्तुत कर दिया है-

'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः।'

अर्थात् सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष का मार्ग है। हम चाहे भगवान् महावीर की बात कहें, चाहे उमास्वाति की, चाहे अन्य किसी तीर्थंकर की, मार्ग एक ही है। जिस पर चल कर सफलता प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। वह मार्ग है ज्ञान-दर्शन-चारित्र के समन्वय का मार्ग। पृथक्-पृथक् ये तीनों ही अधूरे मार्ग हैं। तीनों का समन्वय करके चलने वाला साधक ही मंजिल को प्राप्त करता है।

सम्यक् दर्शन क्या है? संस्कृत सूक्ति भंडार में एक सूक्ति आती है– 'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवती तादृशी,' अर्थात् जैसी भावना व्यक्ति की होती है वैसी ही सिद्धि उसे मिलती है। अन्यत्र भी कहा गया है–

'जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्नसंशयः।'

जैसी भक्ति हृदय में स्वीकार करते हैं वैसी ही सिद्धि होती है। भक्ति योग में यह मान्यता है कि भगवान् में सम्पूर्ण आस्था रखने वाले को सिद्धि मिल जाती है, इसमें संशय नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि क्या यह सच है? क्या ऐसा हो सकता है? क्या

जैन दर्शन और जैन सिद्धांत भी इसे स्वीकार करते हैं? निश्चय ही अर्थ रूप में स्वीकार करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है, वृत्ति के अनुसार ही मनुष्य आचरण करता है। इस प्रकार जो भगवान् को ही सब कुछ समर्पित कर देगा वह स्वतः ही राग-द्वेष आदि से मुक्त हो जायेगा। इस स्थिति में उसके कर्म पवित्र ही होंगे। यह सिद्धान्त की बात है।

परन्तु सिद्धान्त की यह बात ऊपर से जितनी सरल दीखती है, उतनी है नहीं क्योंकि इसके साथ व्यवहार भी जुड़ा होता है। आखिर मनुष्य सिद्धान्तों में तो जिन्दा नहीं रहता, उसे व्यवहारशील होना पड़ता है। इसीलिए सरल दीखने वाली बात जटिल हो जाती है। हम आँखों से देखते हैं और कानों से सुनते हैं परन्तु क्या सभी लोग वही देखते हैं या वही सुनते हैं जो उनके सम्मुख स्पष्ट होता है? और क्या इस देखने-सुनने का एक ही निष्कर्ष निकलता है? देखने, सुनने और सोचने की वृत्तियों में एक-से ही संदर्भों में फर्क रहता है। वस्तु एक ही होती है परन्तु देखने वाले उसे अपनी मानसिकता या मनोवृत्ति के नजरिये से देखते हैं। एक बहन जा रही है। देखने वाला कोई व्यक्ति उसे एक बहन के रूप में देखता है, कोई उसे मां के रूप में देखता है, कोई उसे भुआ के रूप में तो कोई उसे चाची के रूप में भी देखता है। एक व्यक्ति यदि उसे पत्नी के रूप में देखता है तो अन्य व्यक्ति उसे अन्य रूपों में देखकर चिंतन करते हैं। सभी की भावनाएं पृथक्-पृथक् होती हैं। जैसी दृष्टि होती है वैसी ही वह वस्तु नजर आती है। यह दृष्टि भेद क्यों होता है?

हम अपने भीतर दृष्टिपात करें कि हमारी दृष्टि दिन भर में क्या-क्या देखती है ? एक को देखकर प्रेम जागता है वहीं किसी अन्य व्यक्ति को देखकर घृणा अथवा तिरस्कार के भाव जाग्रत होते हैं। यदि कहीं पोता आ जाय तो वात्सल्य भाव आ जाता है और शत्रु आ गया तो आक्रोश का भाव आ जाता है। भावों का यह परिवर्तन सामने देखने वाला आंखों में देख सकता है। ऐसी

स्थिति क्यों बनती है? यह स्थिति हमारे अंतर के भावों के कारण बनती है। वस्तु को जिस भावना से देखते हैं वैसी ही दृष्टि हमारी बन जाती है। तब यथार्थ दृष्टि कैसे बने? सम्यक् द्रष्टा वनें क्योंकि सम्यक् दर्शन यथार्थ का बोध कराने वाला दर्शन है। जव तक हमारी आंखों पर किसी रंग विशेष का चश्मा चढ़ा है तव तक वस्तु का वैसा ही रंग अथवा स्वरूप दिखाई देगा। परिणामस्वरूप यथार्थ को हम नहीं जान पायेंगे। यदि वह चश्मा हट जाए तो सत्य को, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को हम जान पायेंगे। इसी प्रकार यदि हमारे साथ मिथ्यादर्शन जुड़ा है तो हमें उस दर्शन के अनुरूप ही दिखेगा। सम्यक् दृष्टि रखने वाला ही यथार्थ स्वरूप को जान पाता है। सम्यक्त्व के प्रसंग से संबंधित एक सूत्र है-

'अरिहंतो महदेवो जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो,।
जिण-पण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं,।

यह जो उद्घोष किया जाता है यह व्यवहार या पहचान का कार्य है। यह व्यावहारिक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व सूत्र देव, गुरु और धर्म की पहचान है। अरिहंतो महदेवो- अरिहंत मेरे देव हैं। सुसाहुणो गुरुणो- सुसाधु मेरे गुरु हैं और केवली प्ररूपित धर्म ही मेरा धर्म है। निश्चय में तो आत्मा स्वयं ही देव, गुरु और धर्म है। ऐसा क्यों कहा गया है? ऐसा व्यवहार की दृष्टि से कहा गया है। सिद्धान्त में जो सत्य है उसकी तब तक कोई सार्थकता नहीं जब तक उसे व्यवहार में न उतारा जाये। विष मृत्यु का कारण होता है और तलवार हत्या करती है परन्तु पात्र में भरा विष अथवा म्यान में रखी तलवार कोई हानि नहीं पहुँचाते, इसी प्रकार अमृत अमरता प्रदान करता है और औषधि स्वास्थ्य परन्तु यदि इनका उपयोग न किया जाय तो इनकी क्षमताएँ अथवा शक्तियाँ व्यर्थ हैं। किसी चित्रकार की कल्पना का चित्र अथवा मूर्तिकार की कल्पना की मूर्ति किसी को तृप्ति प्रदान नहीं करतीं। इसीलिये आचार शास्त्र की महिमा है और आचारांग को शास्त्र माना गया

है। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि विचार, निश्चय, निर्णय अथवा सिद्धान्त से कुछ नहीं होता। अच्छे विचार का अल्पतम लाभ भी तब तक नहीं मिलता जब तक उसे कार्य रूप में परिणत न कर दिया जाये। यह भी कह सकते हैं कि केवल निश्चय, विचार या निर्णय पंगु हैं, वे सब व्यवहार के पैरों पर चलते हैं। बिना निश्चय के व्यवहार नहीं होता और बिना व्यवहार के निश्चय नहीं होता है। निश्चय यदि अंधा है तो व्यवहार नेत्र बन जाते हैं। अंधे और लंगड़े वाली कहावत है। अंधा और लंगड़ा स्वयं अलग-अलग अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं और यदि दोनों मिल जायें तो दोनों की रक्षा हो सकती है।

आत्म-जागरण के लिए सम्यक्त्व को ग्रहण करना होता है– किन्तु इस बात को लेकर भी यदि विवेक बुद्धि से चिंतन नहीं किया तो जीवन के बहुमूल्य क्षण यूं ही खो दिए जायेंगे। अतः इन बातों को समझने का प्रयास किया जाना चाहिये।

अब इनके फलित पर विचार करें। जिसमें शाश्वत तत्त्व और चेतना-युक्त तत्त्व है वह आत्मा है। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए सूत्र है–

तन्निसर्गादधिगमाद्धा।

अर्थात निसर्ग से और दूसरों के प्रतिबोध से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा भावों को जाग्रत करने हेतु, प्रेरणा की भी आवश्यकता होती है। इस तर्कशील युग में प्रश्न उत्पन्न होता है कि सम्यक्त्व भी क्या लेने की चीज है कि किसी ने दे दिया और हमने ले लिया? प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

सम्यक्त्व सूत्र में 'मए-गहियं' पद आया है। इसका अर्थ है– मेरे द्वारा ग्रहण किया गया। सम्यक्त्व भी गुरु आदि से ग्रहण किया जाता है। इसके पीछे प्रमाण भी है। उदाहरण के लिए भगवान महावीर अंतिम समवसरण के समय और देशना के प्रारम्भ में ही गौतम से कहते हैं– गौतम उठो, देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देना है। प्रतिबोध अर्थात् सम्यक्त्व देना है।

इस प्रकार की घटना से यह फलित होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए उपचार भी जरूरी है जीवन के उसी स्वरूप को जानने का प्रयास करें।

'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं।'

वही सत्य है जो जिनेश्वर देवों ने फरमाया है। जब से यह विश्वास पैदा होता है तब से ही सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव या सम्यक्त्व का आविर्भाव माना जाता है। इसके उपरान्त व्यक्ति में मिथ्यात्व के प्रति विश्वास नहीं रह सकता और न ही आग्रह-बुद्धि ही रह सकती है। यदि शंका होगी तो वह यही कहेगा– 'मैं सिर्फ इतना ही जानता हूँ और यथार्थ केवली गम्य है– केवली जाने।' तब व्यक्ति के मस्तिष्क में किसी प्रकार का तनाव या टेंशन नहीं होगा। आग्रह बुद्धि जब आ जाती है तब बात तन जाती है। जब दो आग्रह परस्पर टकराते हैं तो वहां एक प्रकार का तनाव, खिंचाव, टूटन अथवा विस्फोट जैसी स्थितियाँ बन जाती हैं।

आग्रह बुद्धि में व्यक्ति उपादान को भूलकर निमित्त को ही सब कुछ मानने लगता है और निमित्त व्यक्ति को बाहर भटकाने वाला होता है।

दर्शन की आराधना होती है तो ज्ञान की आराधना होती है और तभी चारित्र की भी आराधना हो सकती है। दोनों के अभाव में चारित्र की आराधना नहीं हो सकती है। ज्ञान और दर्शन की आराधना किये बिना व्यक्ति चारित्र की आराधना भी नहीं कर सकता है। अतः वस्तु सत्य को समझने में आग्रह बुद्धि नहीं होनी चाहिए। इसके लिए श्रद्धा और विवेक होना जरूरी है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञान की निर्मलता के साथ चारित्र की निर्मलता की भी आवश्यकता है अन्यथा दर्शन और ज्ञान अकारथ चले जायेंगे। श्रद्धाभ्रष्ट का ज्ञान और चरित्र व्यर्थ चला जाता है। वैसे ज्ञान, दर्शन और चरित्र तीनों अन्योन्याश्रित हैं फिर भी दृढ़ श्रद्धा के साथ ज्ञान के आलोक में चरित्र को निर्मल बनाये रखना/बनाना जरूरी है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ... संकल्प की दृढ़ता के उदाहरण बुद्ध और महावीर ही नहीं, वे सिद्ध पुरुष भी हैं जिन्होंने भावना-लोक के प्रलोभनों को अनदेखा कर स्वयं को लक्ष्य की ओर गतिशील रखा। यह भी स्मरण में रखने की बात है कि [illegible] भावना के प्रवाह का यह सौभाग्य मनुष्य जाति को ही प्राप्त है। जबकि अन्य प्राणी भावना के क्षणिक आवेश में ही बह जाते हैं, मनुष्य ही उन्हें नियंत्रित और निर्देशित कर निर्दिष्ट अथवा अभीप्सित पथ पर ले जा सकता है। परन्तु इस सौभाग्य का लाभ भी क्या सभी मनुष्य उठा पाते हैं? सामान्य जन तो भावना के प्रवाह में निढाल हुए प्रवाह के साथ बहते रहते हैं। जीवन के लक्ष्य का उन्हें बोध ही नहीं होता। कुछ भावनाशून्य लोग भी होते हैं जिनके संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने संसार में जन्म लिया, संसार के रिश्ते-नातों में वे उलझे, अनेक रीति-रस्मों को उन्होंने पूरा किया और एक दिन श्मशान में भी पहुँचा दिये गये। हमने भी कई जन्म लिए और पूरे कर लिए, पर परमात्म-दर्शन का लक्ष्य नहीं बना।

इन्द्रलोक में सभा जुड़ी हुई थी। सनत्कुमार के रूप की प्रशंसा हुई। एक देव ने परीक्षा की दृष्टि से ब्राह्मण का रूप बनाया। एक टोकरे में उसने घिसी हुई जूतियाँ और पगरखियाँ भर लीं और

सनत्कुमार के महल की ओर प्रस्थित हुआ। द्वारपाल ने प्रवेश से मना कर दिया। ब्राह्मण ने कहा– कितनी जूतियाँ मेरी घिस गईं, देश-देशान्तर में भटकता हुआ मैं यहाँ तक पहुँचा हूँ, मेरा कण्ठ सूख रहा है, मुझे चक्कर आ रहे हैं, मैं मृत्यु के सन्निकट ही अपने आप को पा रहा हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरी दर्शन की पिपासा अपूर्ण रह जाए, उस स्थिति में तुम ब्रह्म हत्या के भागीदार बन जाओगे। दृष्टांत की बात छोड़ें और विचार करें कि जब छः खण्ड के राजा के दर्शन भी दुर्लभ हैं तो फिर परमात्मा, जो तीन लोक के स्वामी हैं, उनके दर्शन क्यों दुर्लभ नहीं होंगे?

हम व्यक्ति के बाह्य चेहरे को देखकर मान लेते हैं कि हमने दर्शन कर लिये। बाह्य चक्षु बाह्य स्वरूप को ही देख सकते हैं। चार ज्ञान के स्वामी गौतम से प्रभु कहते हैं–

'णहु जिणे अज्ज दीसइ'

हे गौतम तू आज 'जिन' को नहीं देख रहा है, जबकि प्रभु सामने ही विराज रहे हैं। यदि व्याप्ति-व्यापक भाव की दृष्टि से विचार करें तो आत्मा इस सारे शरीर में व्याप्त है। इस सचेतन शरीर को देखा जा सकता है। जब दूध और मिश्री एकमेक हो जाते हैं, हम ऊपर से सिर्फ दूध को देख सकते हैं मिश्री को नहीं, उसकी तो दूध पीने पर अनुभूति ही हो सकती है, अनुमान ही हो सकता है। इसी तरह इस शरीर की क्रियाओं से आत्मा का अनुमान होता है। यदि शरीर से आत्मा अलग हो जाये तो फिर बोलने-चलने आदि की क्रियाएं स्वतः रूक जायेंगी। तब कर्ता के अनुमान से ही आत्मा को जाना जा सकेगा।

प्रश्न होगा कि मिश्री तो प्रत्यक्ष देखी जा सकती है अतः दूध में उसका अनुमान हो सकता है परन्तु आत्मा तो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती फिर उसका अनुमान कैसे करें? आत्मा कैसी है? कैसा उसका स्वरूप है? यही जिज्ञासा कवि आनन्दधन जी को भी थी। वे कहते हैं–

'अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिए.....।।

भगवन् ! बड़ी प्यास लगी है, परमात्मा सामने हों तो उनके चरणों में नत मस्तक हो जाऊँपर मुझे आज तक परमात्मा के दर्शन हुए नहीं। मैं अनेक साधकों के पास गया; लगता है जैसे सभी परमात्म दर्शन कराने का ठेका लिए हुए हैं। पर जिन्होंने आत्मा को नहीं जाना, वे परमात्मा के दर्शन कैसे करायेंगे? परमात्मा है कहां?

प्रभु महावीर ने भी कहा है– 'अज्झत्थं सुध्दं एसए' अर्थात् शुध्द अध्यात्म का अन्वेषण करो। आत्मा में होना अध्यात्म है। प्रभु महावीर ने जो बात कही है वही बात आनन्दघनजी भी कह रहे हैं। आज अध्यात्म शुध्द नहीं रहा है। व्यक्ति भेल-सम्भेल का जीवन जी रहा है। प्राचीन समय में श्रावक जब गुरु वचनों को सुनते थे तब पूर्ण आस्थायुक्त हृदय से उस वाणी को ग्रहण करने का प्रयास करते थे। आप बोल भले नहीं रहे हैं पर श्रध्दा भाव से श्रवण का कार्य हो रहा है। एक श्रावकजी व्याख्यान में हमेशा आगे आकर बैठते, 'खम्मा अन्नदाता' कहकर सादर गुरु वाणी श्रवण करते। एक दिन एक पठान सेठजी की दुकान पर पहुँचा। उसे घोड़े के लिए चनों की जरूरत थी। कहने लगा– सेठजी आप चाहे जो कीमत ले लो पर मुझे अच्छे चने ही देना। सेठजी ने अच्छे चने की कीमत ले ली और माल दे दिया। पठान ने सुबह चने ज्योंही पानी में डाले, बहुत सारी इल्लियां और लट्टें पानी पर तैरने लगीं। पठान को गुस्सा आ गया– धर्म का झूठा स्वांग भरने वाले सेठजी ने मुझे धोखा दिया है। सेठजी व्याख्यान में गए हुए थे। पठान भी पहुँच गया। आज मुझे, इनकी पोल खोलनी है। आगे जो काण्ड घटा उसकी आप कल्पना कर सकते हैं। अब कहिये, उनके व्यवहार से धर्म की प्रभावना हुई या निन्दा? यहाँ तो नैतिकता भी सुरक्षित नहीं रह पायी। नीति हमें नैतिक बनाती है और धर्म धार्मिक। नीति कहती है कोई एक थप्पड़ मारे तो तुम उसके दो

थप्पड़ जड़ दो। धर्म कहता है कि तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। जबकि इन सबसे ऊपर अध्यात्म का संदेश है– 'तुम्हें थप्पड़ महसूस ही नहीं होना चाहिए।'

नीति और धर्म में अन्तर है। साथ ही अध्यात्म कहता है कि तुम्हें उसका आभास ही न हो। अर्जुनमाली, जिसने अनेक हत्याएं की थीं, अंत में दीक्षित हो गया। उसके बाद किसी ने उसके साथ कैसा भी दुर्व्यवहार किया हो, गालियां दी हों, या पत्थर ही फेंके हों– उसने ध्यान ही नहीं दिया। अध्यवसाय जब शुद्ध होते हैं तब हम आत्मा के अत्यधिक निकट पहुँच जाते हैं और जब आत्मा के दर्शन हो जाते हैं तो परमात्मा के दर्शन भी हो जाते हैं। अध्यात्म में प्रतिक्रिया नहीं होती, प्रतिशोध नहीं होता। शुद्ध अध्यवसाय, शुद्ध अध्यात्म के दर्शन ही आत्मदर्शन है। हम आत्मदर्शन कर लें तो हमें आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे।

आत्मदर्शन की विधि क्या है? कभी-कभी देखने के लिए बहुत आगे बढ़ते हैं पर भूल जाते हैं– आज विज्ञापन का समय है, प्रचार का समय है– दुकानों पर आकर्षक विज्ञापन बोर्ड लगे रहते हैं और साथ में कई बार आकर्षक आकृतियाँ भी प्रदर्शित रहती हैं। यह असत्य को प्रभावी बनाने का तरीका होता है अथवा अर्द्धसत्य को पूर्ण सत्य बनाने का उपक्रम होता है। विज्ञापन के प्रभाव से लोग खिंचे चले आते हैं और वस्तु में उन्हें प्रचारित गुणवत्ता नज़र आने लगती है। इस प्रकार विज्ञापन बिक्री को ही नहीं, मनोविज्ञान को प्रभावित करने वाली कला बन जाता है। आज तो वह पाठ्यक्रम का अंग भी बना दिया गया है। हिटलर के प्रचार मंत्री जनरल गोयबल्स का मत था कि झूठ सत्य हो सकता है बशर्ते बड़े से बड़ा झूठ बोला जाय, खूब जोर से बोला जाय और बार-बार बोला जाय। हम जानते हैं कि इस बड़े झूठ पर कि 'धर्म दो राष्ट्र बनाता है'– देश का विभाजन हो गया और पाकिस्तान की एक हवाई कल्पना ने सत्य-आकार ग्रहण कर लिया। हम

ब्राह्मण, उसके बकरे और चार चोरों की नीतिकथा से भी परिचित हैं जिसमें उन चोरों ने अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग समयों में बकरे को कुत्ता कह कर, ब्राह्मण को बकरा छोड़ देने पर मजबूर कर दिया था।

अमेरिका में एक शोध हुआ था। एक 18/21 वर्ष का युवक टी.वी. देखता है और वह इस वय तक 21000 घण्टे तक टी.वी. देख लेता है। वह बार-बार टी.वी. पर शराब का विज्ञापन देखता है (लगभग दो लाख बार)। बार-बार देखते रहने से उसके मानस पटल पर विचार बनता है कि एक बार चख कर देख लिया जाये। विचार कार्यरूप में परिणत हुए और उसके सघन संस्कार बन गए, वह शराब पीने लग गया। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि एडवरटाइजमेंट एक प्रकार से सम्मोहन की क्रिया है। प्रारम्भ में व्यक्ति व्यसन को ग्रहण करता है पर जब लत पड़ जाती है तो ये व्यसन व्यक्ति को ग्रसने लगते हैं। व्यसनों के आकर्षण में फंसने वाले की जैसी हालत होती है उसके संबंध में क्षत्रचूड़ामणि काव्य में स्पष्ट कहा गया है–

व्यसनासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति।।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्।।

एक व्यक्ति ने अपनी दुकान पर वैवाहिक संबंधों के विज्ञापन का बोर्ड लगा रखा था। एक अविवाहित युवक बाजार से निकल रहा था। उसने बोर्ड पर लिखा देखा– 'भीतर पधारिये, मनचाही कन्या का चयन करिये'। विज्ञापन देखकर उस युवक ने सोचा– चलें, देखें क्या है? अपने लिए उपयुक्त है या नहीं? विचारों का एक प्रवाह आया और वह युवक भी प्रवाह में बह कर अन्दर पहुंच गया। अन्दर दो कमरे बने हुए थे और दोनों के बाहर दो बोर्ड लगे थे– एक पर लिखा था ग्रामीण कन्या और दूसरे पर– शहरी कन्या। युवक ने सोचा ग्रामीण क्यों, शहरी देखी जाए। ग्रा॥ कन्या के तौर-तरीके फूहड़ होंगे और वह सोसायटी के

भी नहीं होगी। अतः शहरी कन्या वाला दरवाजा खोलकर वह अन्दर गया। अन्दर पहुँचकर उसने देखा– कमरा बिल्कुल खाली था– लेकिन अन्दर फिर दो कमरे दिखाई दिये– एक पर लिखा था 'कामकाजी' और दूसरे पर लिखा था 'आरामपसंद'। उसने विचार कर कामकाजी को पसंद करना ही ठीक समझा। दरवाजा खोलकर भीतर गया। वह कमरा भी खाली था परन्तु भीतर दो कमरे थे– एक पर– 'अनपढ़' और दूसरे पर 'पढ़ी लिखी-पोस्ट ग्रेजुएट' लिखा था। सोचा– अनपढ़ होगी तो तकलीफ होगी, पढ़ी-लिखी होगी तो ठीक रहेगी। दरवाजा खोलकर अन्दर प्रविष्ट हुआ। देखा कन्या तो वहाँ पर भी नहीं थी लेकिन वहाँ पर फिर दो कमरे थे और उन पर तख्ती लगी थी– '2000) मासिक वेतन पर कार्यरत' और दूसरे पर लिखा था 'नौकरी लगी नहीं'। उसने सोचा अभी तो मेरा काम-धंधा लगा नहीं और यदि नौकरी-पेशा मिल जायेगी तो ठीक रहेगा, समस्या हल हो जायेगी। उसने 2000) मासिक वाला दरवाजा खोला और अन्दर पहुँचा। देखा, वहाँ कन्या तो थी नहीं परन्तु एक कोने में दीवार के सहारे खड़ा दर्पण नजर आया उसके नीचे लिखा हुआ था 'जरा अपना चेहरा भी तो देखिये'। हम सोचें– क्या हमने भी कभी अपना चेहरा देखा है ? आत्मनिरीक्षण किया है कि हम स्वयं कितने योग्य हैं? आशाएँ तो हमने ऊँची-ऊँची संजोई हैं पर अपनी पात्रता नहीं देखी। कौन देखता है अपनी पात्रता और अपना चेहरा? चेहरा देखने से आत्मदर्शन होगा। टी.वी. कार्यक्रमों से हम इतने सम्मोहित होते हैं पर धर्म की ओर क्या तनिक भी आकर्षित हो पाते हैं? खाली ख्वाव देखने से काम नहीं चलता है। आत्मदर्शन करना चाहिए। दर्पण में अपना चेहरा देख तो लें कि हम क्या हैं? हमने स्वयं में कितने पाप भर रखे हैं? हमें दर्शन दुर्लभ क्यों हैं? युवक ने वाहर तो ढूंढ़ा पर अपने अंदर नहीं देखा। इस तरह काम नहीं चलेगा। शुद्ध एषणा के अनुरूप मार्ग अपनाना होगा। जीवन में सरलता लानी होगी।

'सो ही उज्जुय भुयस्स' ऋजुभूत बन जाओ। फिर इन्द्रियों के विषयों को सन्तुष्ट नहीं कर पाओगे। कहा है—

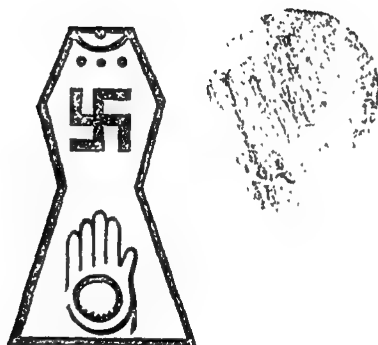
इन्द्रियों के न घोड़े विषयों में अड़े।।
जो अड़े भी तो संयम के कोड़े पड़े।।
तन के रथ को सुपथ पर चलाते चलो।।
फिर अरिहन्त में मन लगाते चलो।।

आत्मनिरीक्षण करें, स्वयं में सरलता लायें तब ये इन्द्रियों के घोड़े, जो अभी दौड़ रहे हैं, फिर दौड़ नहीं पायेंगे। दो घोड़ों पर सवारी नहीं होती है, सवारी की जाती है तो क्या स्थिति होती है, बताने की आवश्यकता नहीं। दो भिन्न प्रकृति के तत्त्वों को एक साथ खुश नहीं रखा जा सकता है। या तो इन्द्रियों के घोड़ों को खुश रखा जा सकता है या फिर आत्मा को खुश रखा जा सकता है। धार्मिक भी बने रहें और विषयों के भोग की भी आकांक्षा रहे तो धार्मिक तो बन जायेंगे पर आध्यात्मिक नहीं बन पायेंगे। विषयों से विमुख होकर तटस्थ बनना होगा। अपने आप को शव की तरह बना लो। कोई निंदा करे या प्रशंसा या कोई घर से निकाले, शव पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। एक आप सोये-सोये घर से निकलते हैं और एक खड़े-खड़े, दोनों में कोई अन्तर है या नहीं? सोये-सोये घर से निकलते हैं तो चार आदमी उठाकर निकालते हैं और कहते हैं— 'रामशरण हो गया है' और खड़े-खड़े निकलते हैं तो कहते हैं— 'आत्मा की शरण हो गया है।' पर मरने के पहले ही सद्गुरु की शरण में आ जाओ।

वैरागी हूँ, वैरागी को न घर चाहिये न दर चाहिये।
बस, एक सद्गुरु की शरण चाहिये।।

सद्गुरु मन की दुविधा से बचा लेता है और सही मार्ग पर अग्रसर कर देता है। ऊहापोह की स्थिति, अनिर्णय की ि
और आशा-निराशा के भँवर से निकालने वाला सद्गुरु ही
है। गुरु की शरण इन्द्रियों की दासता से मुक्ति दिल

आध्यात्मिकता के स्वामित्व का अधिकारी बना देती है। यदि हम इन्द्रियों की शरण में चले जाते हैं तो फिर आध्यात्मिकता प्राप्त नहीं हो सकती है। हमें आध्यात्मिकता को प्राप्त करना है। हम यदि शुद्ध अध्यात्म के गवेषक बनेंगे तो फिर परमात्म-दर्शन भी हमारे लिए सुलभ बन जायेगा।



12. सफल साधना का मार्ग

अभिनंदन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव।।

साधना के क्षेत्र में मन, वचन और काया का परस्पर गहरा संबंध है। काया यदि स्थिर होती है तो मन भी स्थिर होता है। कायिक चंचलता मन को भी चंचल बना देती है। प्रभु ने संकेत दिया है कि साधना में गति करने के लिए साधक मन को बलवान बनाये और उस पर आधिपत्य कायम करे। आत्मा की मर्जी के अनुरूप मन चलना चाहिए, अन्यथा द्वंद्व पैदा होंगे। कहा भी गया है–

अट्टे लोए परिजुण्णे दुसंबोहे अविजाणिए

अर्थात् आर्त्त भाव में मन परिजीर्ण होता है। जैसे वस्त्र का पुनः पुनः प्रयोग करने पर वह जीर्णता को प्राप्त करता है उसी प्रकार आर्त्त भावों से मन जीर्ण होता है। आर्त्त भाव क्या हैं? जो मनोज्ञ है उसके प्रति लगाव या उसकी अप्राप्ति से दुःख और अनिच्छित की अप्राप्ति हेतु तत्परता। इन नियमों में मन की गतिशीलता मन की शक्ति को क्षीण करती है किन्तु यदि हम इन भावों से हटकर ध्यान, अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय आदि में मन का केन्द्रीकरण कर लें तो मन बलिष्ठ बनेगा और साधना में उर्वरी क्रिया करेगा। एक बहिन पढ़ी लिखी थीं, विदेश घूमकर आईं, अपनी ननिहाल पहुँचीं, वहाँ का वातावरण देखा, पुराने व्यवहारों का प्रचलन था। घर के सदस्य चक्की चलाते और हाथ से पीसा आटा खाते। उसे यह सब अच्छा न लगा। उसने कहा मामाजी युग तो कहाँ से कहाँ चला गया है। युग की देन ने हमारे समय व श्रम को बचाने में सहयोग दिया है पर फिर भी आश्चर्य है आप सभी सदस्य ऐसे निरर्थक कार्य में जुटकर समय बरबाद करते हैं। दो-चार रुपये व्यय करके थोड़े ही समय में हमें गेहूँ का अच्छा

आटा उपलब्ध हो सकता है। बाजार में ऐसी मशीनें विज्ञान की कृपा से मौजूद हैं। इस प्रकार समय और श्रम दोनों बच सकते हैं। बचे हुए समय में हम अन्य अधिक उपयोगी कार्य कर के 'प्रोग्रेस' कर सकते हैं। मामाजी ने कहा– तुम्हारा चिन्तन सही है, पर हमें इस कार्य में जो आनंद आता है वह आनंद बाजार में नहीं मिल सकता। उसने पूछा– भला चक्की चलाने में कैसा-क्या आनंद? मामाजी ने कहा– चलो तुम भी चलाकर देख लो। बहिन चक्की चलाने बैठी, पर उसे न अभ्यास था, न ही विधि का ज्ञान। चलाते-चलाते पाट भारी हो गये, गाला (अनाज) डाला ही नहीं गया, खाली पत्थर घिसने लगे। चक्की भारी हो गई। मामाजी ने उसे प्रयोग विधि समझाई। पर रुचि के अभाव में उसे विशेष रस नहीं आया। मामाजी ने कहा– ऊपर से देखने से तुम्हें आनंद नहीं आया किन्तु मेरा निजी चिन्तन है कि चक्की में जब गाला (अनाज) डाला जाय तो उसमें हल्कापन रहता है। इसी तरह इस मन की घट्टी में भी खुराक डालते रहें तो यह हल्का रहेगा, नहीं तो मन के पत्थर घिस जायेंगे और यदि ध्यान न रहे तो आग भी लग सकती है। कहा भी है– खाली मन शैतान का घर। मन की शक्ति क्षीण होगी तो फिर उसमें साधना के लायक सूत्रों को उठाने की क्षमता नहीं रहेगी। अतः मन की चक्की में तीर्थंकर देवों द्वारा प्रदत्त सूत्रों को डाला जाय तो मन की चक्की उन्हें पीसकर (चिन्तन द्वारा) महीन आटा बना देगी।

इन वाक्यों में छिपी सूक्तियों को अनुप्रेक्षा द्वारा खण्ड-खण्ड करके सूक्ष्म अर्थ तक पहुँचना आवश्यक है। शब्द केवल शब्द नहीं होते, उनके साथ अर्थ और अर्थ के साथ भाव संदर्भित रहते हैं। एक व्यक्ति शब्द से चिपट जाता है, दूसरा अर्थ को ग्रहण करता है पर तीसरा भावों की तह में पहुँचता है। जैसे हमारे सामने शरीर शब्द रूप में है, शरीर के आगे प्राण-अर्थ है और उससे भी आगे जो आत्मा है वह भाव है। प्राण तक तो पहुंचे नहीं, फिर आत्मा को कैसे पा सकेंगे? मन, वचन और काया-रूप योग, उससे आगे

प्राण व फिर चैतन्य का नम्बर आता है। नदी के प्रवाह से हम गुजर नहीं सकते तो उस पर पुल बनाते हैं। वह पुल दोनों ओर के तटों को जोड़ता है। प्राण भी आत्मा और योग में संबंध स्थापित करता है। जैसे बिजली फिटिंग की जाती है, फ्यूज के बीच छोटे तार को जोड़ देते हैं, लाइन चालू हो जाती है। इसी तरह प्राण भी प्रवाह को जोड़ता है। फ्यूज को समझे बिना कितने भी बल्ब बदल लिये जायें, प्रकाश नहीं मिलेगा। आत्मा के साथ प्राण जुड़ जायें और पाँच इन्द्रियों के साथ संयुक्तीकरण हो जाये तो रंगीन रोशनी तो मिल जायेगी, स्वच्छ प्रकाश नहीं मिल पाएगा, जैसे बल्ब के सामने रंगीन कागज होने पर रंगीन रोशनी मिलती है। प्रभु इसलिए कह रहे हैं– अट्टे लोए परिजुण्णे......। मन बल्ब की भाँति है क्योंकि उससे प्राण संयुक्त होते हैं, प्राण जुड़े बगैर मन गति करने में पंगु होगा। मन रूपी पाट की गति प्राणों से सक्रिय होती है। मन यदि जीर्ण है तो प्राणों से चेतना का प्रवाह तो होगा पर वह शक्ति आर्त्त भावों के कारण अशुभ कर्म संचय का कारण बन जायेगी। आर्त्त भाव में (द्वंद्व में) शुभ अध्यवसाय कम होने से अशुभ आश्रव होगा। व्यापारी सदैव लाभ देखता है। अशुभ में भी शक्ति का व्यय हो रहा है तो फिर क्यों न उसे शुभ दिशा में संयोजित कर लें?

मनोविज्ञान की शोध के अनुसार– मनुष्य मनन-चिन्तन में मन की (प्राणों की, आत्मा की) जितनी शक्ति लगाता है, उससे जितने चिन्तन उत्पन्न होते हैं उसमें से 15% भाग का क्रियान्वयन होता है, शेष 85% निरर्थक चले जाते हैं, वह भी जाग्रत व्यक्ति के। अन्यथा तो 5% भी उपयोग में नहीं आ पाते। 0% फल कुछ भी नहीं, अतः विचार करें कि हमने कितना उपयोग किया है, कर रहे हैं, हमारे चिन्तन का विषय है।

आनन्दधनजी ने दर्शन की प्यास दर्शाई पर आर्त्त भाव में 'दुसंबोहे' आत्मदर्शन दुर्लभ है। कवि कह रहा है– सामान्य दर्शन

की एक झलक भी दुर्लभ है। आर्त्त भाव में दुसंबोध व आत्मा का स्वरूप अवियाणए अविज्ञात है। एक दृष्टांत द्वारा इसे स्पष्ट करें।

कुछ जिज्ञासु एक साधक के पास पहुँचे, बोले– आपकी ख्याति सुनी है, आप पहुँचे हुए साधक हैं, आपके चरणों का प्रसाद हम ध्यान योग की शिक्षा चाहते हैं। साधक ने उन पर दृष्टि डाली। कहा– ठीक है, कोई बात नहीं। मैं भी योग्य पात्र चाहता हूँ। सभी को अलग-अलग स्थान बता दिये गये। कहा गया वहाँ पर बैठकर 'सोऽहं' का जाप करो। आचारांग सूत्र में कहा गया है– चार दिशा एवं विदिशाओं में घूमने वाला कौन? 'सोऽहं' मैं ही हूँ। जाप करते हुए एक बात का ध्यान रखना, साधना में चंचल वृत्ति वाले बंदर को याद मत करना। शिष्य जाप साधना में लग गए पर यह क्या? टहनियों पर कूदने वाला बंदर पहले सामने आया। आखिर ऐसा क्यों हुआ? ऐसा कैसे होता है कि सामायिक में मन नहीं लगता? उत्तर इस दृष्टांत में ही ढूंढे। बंदर का ध्यान बराबर आने लगा तो सोऽहं का जाप छूट गया, बंदर चित्तवृत्ति से निकल ही नहीं रहा था। परेशान हो गए। चिन्तन जाग्रत हुआ– हमने बन्दर को देखा तक नहीं, सोचा भी नहीं, तब आखिर यह बंदर क्यों मंडराने लगा। पहुँचे पुनः साधक के पास और निवेदन किया– 'गुरुदेव। सोऽहं तो कहीं चला गया और बंदर ही बंदर मस्तिष्क में उभर रहा है। निषेध करने पर मन की गति उधर ही हो रही है।' उन्हें स्पष्टीकरण मिला– निषेध का प्रयोजन यह नहीं है। निषेध और विधि को जानना आवश्यक है। इतने समय तक बंदर नहीं आया तो फिर अब क्यों आ रहा है? इसलिये कि तुम शब्द में उलझ गये, भाव तक नहीं पहुँचे। 'मन' रूप बंदर को बीच में मत आने देना। जाप करते हुए मन बीच में आया तो चित्त चंचल बनेगा, विभावों के कारण शुद्ध अध्यात्म की एषणा जुड़ नहीं पाएगी, सोऽहं में केन्द्रीकरण नहीं होगा। सोऽहं के लिए, शुद्ध अध्यात्म के लिए, विकारों को त्यागना होगा। मन को केन्द्रित करने पर ही सामान्य झलक उपलब्ध हो पाएगी। हांलाकि सामान्य में तो 'यह कुछ है'

इतना ही बोध होता है और उसके बाद फिर ईहा, अवाय और धारणा होने पर 'विशेष' प्राप्त होगा। पर यह सब कब? पहले सामान्य झलक तो प्राप्त हो। प्रार्थना की कड़ियों में कवि ने कहा है– एक तो व्यक्ति अंधा हो, उस पर उसने शराब पी रखी हो, फिर उससे पूछा जाय कि अभी सूर्य दिख रहा है या चन्द्र? तो वह क्या बतायेगा। जाग्रत व्यक्ति भी यदि खूब शराब पी ले तो दिन-रात का विवेक नहीं कर पाता। उसी प्रकार जो संसार के विषयों में लिप्त रहने के कारण मूर्च्छितवत बना हुआ है वह परमात्मा के दर्शन कैसे कर पाएगा? वह तो आंख भी नहीं उठा पायेगा। प्राचीनकाल में जब राजा सुरा-सुन्दरी के भोग में डूब जाते थे तब उनके सेवकों में भी अफसरशाही की बू आ जाती थी। वे 'खाउकड़े' हो जाते थे और जनता पर जुल्म ढाने लगते थे– इतिहास इस बात का प्रमाण है। यह तो संगति का प्रभाव होता था।

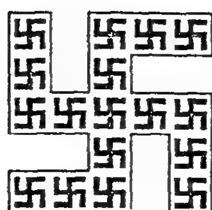
तब ध्यान संगति का रखना चाहिये क्योंकि जैसे संगति की जायेगी वैसी ही मति बन जायेगी, जैसी मति बनेगी वैसे ही कर्म होंगे और जैसे कर्म होंगे, वैसा ही जीवन बनेगा। इसीलिए कविवर बिहारीलाल ने कहा है– 'संगति सुमति न पावई, परे कुमति के धंध। राखो मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध। अच्छी संगति ही सत्संग है जिसका एक विशेष अर्थ लगाया जाता है, साधुओं-संतों का संग। ऐसा इसलिये भी है क्योंकि संतों का संग सदा ही सद् अर्थात् 'शुभ', अच्छा या कल्याणकारी होता है। सत्संग मन को निर्मल और भावों को पवित्र कर देता है। इसीलिये सत्संग की महिमा विशद रूप से गाई गई है। प्रवचन श्रवण भी सत्संग का एक उत्कृष्ट रूप है परन्तु वह भी सहज सुलभ नहीं होता। तुलसी ने रामचरितमानस में लिखा– 'बिनु विवेक सत्संग न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई'। अर्थात् पहले विमल विवेक जाग्रत हो, फिर रामकृपा हो। यह सब सौभाग्य से ही होता है। धन्य हैं वे जन, जिन्हें गुरु-कृपा और सत्संग का सुख सहज ही उपलब्ध हो जाता है। यदि ऐसा सुयोग और सौभाग्य मिलता है तो उसका अधिक

से अधिक तथा शीघ्र से शीघ्र सदुपयोग कर लेना चाहिये क्योंकि समय का कोई भरोसा नहीं और पता नहीं कब मति बिगड़ जाये। इसलिये यह परमावश्यक है कि हम ऐसा, सौभाग्य का, लाभ लेना अविलम्ब प्रारंभ कर दें और सतगुरू को जीवन चुनरिया पक्के रंग में रंग देने दें जिससे कबीर की वाणी सार्थक हो–

सतगुरु हैं रंगरेज चुनर मोरी रंग डारी।।
स्याही रंग छुड़ाय के रे दियो मजीठा रंग।।
धोये से छूटै नहीं दिन-दिन होत सुरंग।।

कह कबीर रंगरेज गुरु तो मुझ पर हुये दयाल,
सीतल चुनरी ओढ़ के रे भइ हौं मगन निहाल।।

हम सत्संग का रंग लगायें, मन की चक्की में वीतराग वाणी का गाला डाल कर पीसते जायें। इस प्रकार जो आटा मिलेगा उससे परमात्म दर्शन सुलभ होगा। सूक्तियों को जीवन में ढाल लें तो हमारा कल्याण हो जाये। मन की चक्की को सही रखें, वानर वृत्ति का त्याग करें और शेष गुरू पर छोड़ दें, मन, वचन और काया की स्थिरता प्राप्त करने में सफलता मिलेगी और आत्म तत्त्व के साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त होगा।



13. संग्रह-वृत्ति : जीवन का अभिशाप

इस चराचर विश्व में दो मुख्य शक्तियाँ है– पहली चेतन और दूसरी अचेतन अथवा जड़। इन्हें ही जीव और अजीव भी कहा जाता है। जिसमें संवेदन और ज्ञान है वे जीव हैं। संवेदन शब्द वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है और प्रभु महावीर ने पाँच स्थावर में चेतना की प्ररूपणा की है। जब विज्ञान अविकसित अवस्था में था तब भी श्रद्धालु भक्त प्रभु महावीर की बात पर पूर्ण विश्वास करते थे। विज्ञान ने तो बाद में प्रयोगों से सिद्ध किया कि पाँच स्थावर में संवेदन है, ज्ञान है। जहाँ संवेदन होगा वहाँ विचार (अध्यवसाय) होगा और जब विचार (अध्यवसाय) होंगे तो उनके शुभ-अशुभ रूप भी होंगे क्योंकि विचार प्रायः एक ही दिशा में गति नहीं करते। शुभ-अशुभ विचार ही पुण्य और पाप कर्मों के लिये उत्तरदायी होते हैं अथवा उनसे कर्मों का आश्रव होता है। आत्मा के चारों ओर कर्मों का घिराव होता है। जिस प्रकार की क्रिया होती है तदनुरूप कर्मों का संबंध होता है। आचारांग सूत्र में एक सूत्र है– अट्टे लोए परिजुण्णे। व्यक्ति जब विचारों में उलझा रहता है तो द्वंद्व के कारण उसकी मानसिक शक्तियाँ क्षीण होती जाती हैं और व्यक्ति संभल नहीं पाता। मन की उछल-कूद के कारण विचार केन्द्रित नहीं हो पाते। लाख कोशिशों के बावजूद भी वे वश में नहीं आते, उन पर आत्म स्वामित्व नहीं बन पाता। इसका भी कारण है। कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, मानसिक विकल्पों के भी कारण होते हैं। तृष्णा प्रच्छन्न रूप से हमारे हृदय में विद्यमान रहती है। वही तृष्णा कामनाओं और आकांक्षाओं को जन्म देती है। यदि ये पूरी नहीं होतीं तो कुण्ठाओं के रूप में मन में जम जाती हैं और अनजाने ही हमारी क्रियाओं को प्रभावित करती रहती हैं। किन्तु यदि उनकी पूर्ति हो जाती है तो फिर उनकी सुरक्षा की चिन्ता हमारी मानसिकता और क्रियाओं को प्रभावित करने लगती है। मान लें एक व्यक्ति

की इच्छा लखपति बनने की हुई। भाग्यवश छप्पर फाड़ के धन मिल गया और वह लखपति बन गया। पर धन कभी अकेला प्रवेश नहीं करता, वह अपने पूरे लाव-लश्कर के साथ आता है। धन का दूसरा नाम दौलत है। दौलत आती है तो दुलत्ती लगाती है। यदि गधे की दुलत्ती पड़ जाय तो व्यक्ति जीवन भर उस दर्द को नहीं भूल पाता। पर दौलत की लात खाकर आदमी फूला नहीं समाता। सोचता है, मैं दुनिया का सबसे बड़ा आदमी हूँ। यह अहं उसकी चिन्तन क्षमता को कुण्ठित कर देता है। हमने मम्मण सेठ की कथा सुनी है। एक रत्नजटित स्वर्ण का बैल बना लिया, दूसरे में कुछ कमी थी, उसके पीछे जीवन की परवाह किए बिना, बरसते पानी में उफनती नदी में बहती हुई लकड़ियाँ लेने निकल जाता। 'काया जाय पर माया नहीं' वाली हालत हो गई उसकी।

एक और उदाहरण लें। एक नरेश को यह शौक लग गया कि जितने भी अच्छे रत्न मिलें उनका संग्रह किया जावे। जब भी रत्नों के व्यापारी आते उनसे रत्न खरीदकर भण्डार में रख देता था। रत्नों की खरीद के लिए सम्पत्ति भी चाहिए थी– वह कहाँ से आती? कोष खाली हो गया तो फिर जनता से कर वसूले जाने लगे क्योंकि रत्न तो खरीदने ही थे। एक भी रत्न निकालना नहीं था और फिर उनकी सुरक्षा के लिए रक्षक दल की व्यवस्था भी अनिवार्य थी। अन्याय द्वारा जनता से राशि बटोरी जाती रही। राजा अब प्रसिद्धि के फेर में पड़ गया। आगंतुक व्यापारियों को अपने रत्न दिखाता और प्रशंसा सुन-सुन कर मन में संतुष्ट होता। जनता में चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई। पर उस ओर राजा का ध्यान नहीं गया। एक बार एक अनोखा व्यक्ति राजा के दरबार में पहुँचा। आदत के अनुसार राजा उसे रत्न दिखाने लगा। राजा को आशा थी कि वह उसकी प्रशंसा करेगा। पर यह क्या! प्रशंसा तो दूर, उसने राजा की ओर देखा भी नहीं बल्कि अपनी ही वैचारिक दुनिया में खोया रहा। उसे राजा का भी भय नहीं था। यदि व्यक्ति तृष्णा से मुक्त हो और उसका चिंतन सत्य सम्यक् हो तो वह

क्यों घबराये। आखिर राजा ने ही पहल की– 'कृपया बतायें कि मेरा यह संग्रह क्या आपको पसन्द नहीं आया?' व्यक्ति ने भी राजा से उलट कर प्रश्न किया– 'राजन्! इतने सारे रत्न जो आपने एकत्र किए हैं इनसे आपको आमदनी कितनी होती है?' प्रश्न ने राजा के मस्तिष्क को कुरेदा और वह विचार कर बोला– 'भाई! ये रत्न तो मेरे सम्पत्तिशाली होने की निशानी हैं, इनसे आमदनी का क्या संबंध? उलटे इनकी सुरक्षा हेतु 24 घंटे पहरा देती सुरक्षा व्यवस्था पर खर्च ही होता है, आमदनी तो दूर की बात है।'

तब पुरुष ने कहा– 'राजन्! मेरे घर के पास एक बुढ़िया रहती है। परिवार में दो छोटे बालक हैं। पुत्र और पुत्रवधू का स्वर्गवास हो चुका है। न सम्पत्ति है, न भरण-पोषण का कोई साधन ही उसे उपलब्ध है। उसने श्रम करके कुछ पैसे कमाये, दो पत्थर खरीद लाई और चक्की बना ली। अब वह मजदूरी करती है। अनाज पीसने में उसे जो कुछ मिल जाता है उससे बच्चों का और अपना पेट पालती है। उसी से बच्चों की पढ़ाई का प्रबंध भी करती है। राजन्! वह बहिन तो दो पत्थरों से अपना गुजारा कर लेती है और आपके इतने सारे चमकीले पत्थरों से यदि आमदनी नहीं होती तो फिर समझदार कौन हुआ?'

यह प्रश्न आप सबसे है। अस्तु उत्तर आप सब जानते हैं कि संग्रह वृत्ति जीवन में गंदगी लाये बिना नहीं रहती। स्वामी पर उसका प्रभाव पड़ता ही है। आप पूछ सकते हैं कि पुराने युग के श्रावकों के पास कितनी सम्पत्ति होती थी? तो सुनिये– आनंद श्रावक के पास 12 कोटि स्वर्ण मुद्राएँ थीं। 4 कोटि व्यापार में, 4 कोटि स्थायी कोष में और 4 कोटि खर्च में। स्थायी कोष में रखने का प्रयोजन यह था कि व्यापार में हानि-लाभ की स्थिति को संतुलित रखा जा सके। लाभ में तो कोई बात नहीं पर हानि की स्थिति में अपनी साख को बनाये रखा जा सके और बदनामी तथा लांछन से बचा जा सके। इसलिए जितना धन व्यापार में लगाते उतना स्थायी निधि के रूप में भी रखते। सुना गया है कि देश

की सरकार भी जितने नोट जारी करती है उतना स्वर्ण रिजर्व रखती है। आनन्द श्रावक ने दस-दस हजार गायों के चार गोकुल भी बनाये थे। किन्तु प्रभु का उपदेश सुनकर उसने इच्छाओं को सीमित कर लिया। परिणामस्वरूप उसकी विस्तारवादी भावना का वात्सल्य, करुणा और त्याग में रूपान्तरण हो गया। आनन्द श्रावक की वृत्ति संग्रह की नहीं रह कर भगवान् महावीर के संदेशों को आचरण में ढालने की हो गई और वह वात्सल्य व करुणा का आगार बन गया। धन-अर्जन की वृत्ति अब धन के सदुपयोग में ढलने-होने लगी। दीन-हीन व्यक्तियों के प्रति उसके हृदय में करुणा व्याप्त हो चुकी थी। इसलिये उनके कष्टों को दूर करने में उसने अपनी शक्ति का विनियोजन करना प्रारंभ कर दिया था। ऐसे कार्यों में धन ममता और मूर्च्छा का साधन न बनकर जनहित का माध्यम बन जाता है। एक व्यक्ति कषाय करता है, अहंकार के कारण सोचता है– मैं कुछ प्राप्त कर रहा हूँ। परन्तु वैज्ञानिकों की खोजों ने ऐसे व्यक्तियों में होने वाले परिवर्तनों का पता लगाया है। उन्होंने क्रोध, मान आदि अवस्थाओं में व्यक्ति के चित्र लिए और उन पर अनुसंधान किए। इसी प्रकार उन्होंने सदगुणों से प्रभावित व्यक्ति के फोटो लेकर उन पर भी अनुसंधान किया। उन्होंने पाया कि व्यक्ति के हृदय में जब वात्सल्य, करुणा, स्नेह जैसे गुणों की सरिता बह रही होती है तब हृदय का दायरा विशाल हो जाता है। भीतर के ऊर्जा केन्द्रों से शक्ति का प्रवाह चारों ओर फैलने लगता है और उसके आस-पास स्पष्ट आभामण्डल निर्मित हो जाता है जो दूर तक झलकता है। इस प्रकार वह 'मित्ती मे सव्व भूएसु' की भव्य भावना का साकार स्वरूप बन जाता है। मैत्री संग्रह से नहीं होगी। संग्रह और कषाय की स्थिति में व्यक्ति का हृदय संकुचित हो जाता है और उसका दायरा सिमटता चला जाता है। पुराने श्रावक इन्हीं उदात्त भावनाओं का परिचय देते थे। वे व्यापार करने जाते थे तो कई भाइयों को साथ ले जाते थे और कहते थे कि लाभ हो तो दुगुना लौटा देना परन्तु लाभ न हो तो मूल पूंजी

ही लौटा देना और यदि तुम्हारा भाग्य ही साथ न दे तो मूल पूंजी भी अपनी समझना। लाभ हो तो तुम्हारा, हानि हो जाए तो मेरी। ऐसे उदात्त भाव रहते थे उन लोगों के।

किसी जमाने में माँडवगढ़ में एक परम्परा प्रचलित थी। यदि गाँव में कोई नया व्यक्ति आता था तो सभी लोग उसका स्वागत करते थे तथा उपहार के रूप में उसे प्रत्येक परिवार एक-एक ईंट और एक-एक स्वर्ण मुद्रा प्रदान करता था। इस प्रकार उसे उनके बीच बस कर आनंदपूर्वक जीवन-यापन करने के साधन प्राप्त हो जाते थे। आज भी स्वधर्मी वात्सल्य है पर उसका स्वरूप बदल गया है। यदि व्यक्ति सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित है तो उसके सत्कार में लाखों खर्च कर दिये जायेगें, अन्यथा कोई उससे भोजन के लिये भी नहीं पूछेगा। क्या यही स्वधर्मी वात्सल्य है? बड़े शहरों के हालात तो और भी खराब हैं। किसी स्वधर्मी को भोजन कराने की यदि नौबत ही आ गई तो औपचारिकता का निर्वाह भले हो जाए, अन्तर की भावना उसमें जुड़ना कठिन है। विवाह-शादियों में भले ही पैसा पानी की तरह बहा दिया जाये, और अनावश्यक आरंभ-समारम्भ से कर्मों का बन्ध भले हो जाए, वह उन्हें मंजूर होगा, परन्तु स्वधर्मी की सेवा अथवा सहायता का अवसर आ जाए तो जैसे सिर पर पहाड़ आ गिरा लगेगा। सुना गया है कि अरब के बादशाह ने विवाहोत्सव में 40 करोड़ डालर खर्च कर दिये थे। भारत में भी राजे-महाराजे विवाह के अवसर पर करोड़ों रुपये स्वाहा कर देते हैं। ऐसे धनी डिनर और डेकोरेशन पर ही लाखों का खर्चा कर डालेंगे पर आस-पास का खयाल नहीं करेंगे। अपनी बिल्डिंग के पास गड्ढा है तो इस भय से कि कहीं बिल्डिंग ढह न जाये उस गड्ढे को ठीक करा लेंगे पर समाज के स्वधर्मी भाइयों के पेट के गड्ढे भरने की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। दानवीर झगड़ूशाह ने अकाल के समय में अपने अन्न-भंडार खोल दिए थे। वे जानते थे कि ये अन्न भण्डार तो आज हैं, पता नहीं कल रहेंगे या नहीं, पर इनसे जो सेवा बन जाए वह कहीं नहीं जायेगी। त्यागपूर्ण

सेवा का कैसा सुखद परिणाम होता है, इससे संबंधित एक घटना है। चन्द्रभानु नामक एक किसान जंगल में रहता था। वह अत्यंत सरल जीवन जी रहा था। एक दिन वह संध्या के समय थका-हारा झोंपड़ी में पहुँचा ही था और सुबह की रखी मक्की की रोटी खाने के लिए हाथ में उसने कौर उठाया ही था कि एक घुड़सवार तेज रफ्तार से द्वार पर आकर रुका। उसने पूछा भीतर कौन है? किसान ने परिचय दिया– मैं चन्द्रभानु किसान हूँ।' घुड़सवार ने कहा– भाई! मुझे भूख लगी है। क्या कुछ खाने को मिल सकता है? किसान के पास मात्र डेढ़ रोटी थी। सोचा, आगंतुक का सत्कार मेरा धर्म है। मैं एक समय भूखा रह जाऊँ, तो क्या फर्क पड़ेगा! उसने वह रोटी भूखे घुड़सवार को दे दी। आगंतुक खा-पीकर रवाना हो गया। बेचारा चन्द्रभानु उस रात्रि भूखा ही लेट गया परन्तु भूख के कारण नींद आ नहीं रही थी। रात्रि जागते ही व्यतीत हो रही थी कि उसने कुछ सैनिकों के घोड़ों की टापें सुनी। टापें उसी के द्वार पर आकर रुकीं। सैनिकों ने उसे आवाज दी। वह बाहर आया। सैनिकों ने कहा– हमारे महाराजा जगतसिंहजी ने आपके लिए ये पकवान व भोजन सामग्री भिजवायी है और आपको राजमहल में बुलाया है। चन्द्रभानु ने सोचा, मैंने राजा का नाम सुना है परन्तु उन्हें जानता नहीं हूँ। मुझे राजमहल में क्यों बुलवाया गया है और यह भोजन सामग्री आदि क्यों भिजवायी गई है? क्या बात हो सकती है, वह चिंतन करने लगा। उसने सैनिकों से पूछा कि भाई, आखिर बात क्या है? उन्होंने कहा– 'भाई, सायंकाल हमारे महाराजा जगतसिंहजी इधर आए थे और वे काफी भूखे थे। और आपने उन्हें अपना भोजन दे दिया था और उनके प्राण बचाये थे। अपने त्याग से आपने उन पर उपकार किया है। इसी उपकार के फलस्वरूप उन्होंने आपको बुलवाया है और यह सामग्री आपके लिए भिजवायी है। आप भोजन कीजिए और हमारे साथ चलिए।' लोग सोचते हैं हमारे परोपकार का फल अगले जन्म में मिलेगा। किन्तु यहाँ हम प्रत्यक्ष त्याग का फल देख सकते हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि त्याग और सज्जनता की भावना से यदि हम से कुछ बन पड़ता है, तो वह सुफलदायी बनता है अन्यथा संग्रह वृत्ति से गंदगी पनपती है। व्यक्ति सोचता है, संग्रह करूँगा तो भविष्य में सुखी रहूँगा पर शास्त्र कहते हैं 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' अर्थात् वित्त (धन) त्राण में समर्थ नहीं है। धन संग्रह तुम्हारे जीवन को असुरक्षित कर देगा, वह रक्षा में समर्थ नहीं है, उलटे तुम्हें ही उसका रक्षक बनना पड़ेगा। धन अन्याय, अत्याचार का मूल है। यदि अपनी मानसिकता को दूषित करोगे तो फिर धर्म-अनुष्ठान कैसे कर पाओगे? यदि तुम्हारा जीवन उन्नत बनेगा तो तुम दूसरों को भी प्रकाश दे सकोगे। अतः यह आवश्यक है कि मन में यह भाव बने कि कोई व्यक्ति भूखा न रहे, उसे आजीविका के साधन मिले और उसका जीवन सुरक्षित रहे। यह नहीं कि कोई भिखारी आ जाये तो उसे रुपया-आठ आना देकर भगा दें। होना यह चाहिए कि उसे सही राह पर लगाया जाए, जिससे उसकी भीख मांगने की प्रवृत्ति ही छूट जाये।

एक सत्य घटना है। एक अपंग व्यक्ति सड़क पर पड़ा हुआ था। पास से बहुत से व्यक्ति गुज़र रहे थे पर कोई उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दे रहा था, अधिक से अधिक चार आने, आठ आने पैसे डाल देते, जिन्हें वह बटोर लेता था। एक सहृदय सेठजी उधर से निकले, उन्होंने उसे अपनी गाड़ी में बैठाया और अस्पताल ले गये। उपचार से वह ठीक हो गया। उन्होंने उसे कुछ अर्थ सहयोग देकर पैरों पर खड़ा कर दिया। उस व्यक्ति ने भी पुरुषार्थ किया और जब उसने प्रचुर सम्पत्ति अर्जित कर ली तब वह उपकारी सेठजी को सम्पत्ति लौटाने पहुँचा। सेठजी ने कहा– भाई! यह मुझे नहीं चाहिये इसे तुम परोपकार में लगाना और प्रयास करना कि जैसे तुम पर उपकार हुआ वैसा ही उपकार तुम भी करना। मेरे ऋण से उऋण होने का यही एक रास्ता है।

ऐसे उदाहरण हमें यह सोचने के लिये प्रेरित करते हैं कि वस्तु के सदुपयोग से ही उसकी सार्थकता प्रमाणित होती है अतः

सदा सदुपयोग की चिन्ता की जाये अन्यथा संसार में धनिकों और वस्तुओं की कमी नहीं है फिर भी लोग पीड़ित, दुःखी और गरीब हैं तथा कष्टों और अभावों में जी रहे हैं। मानवता और धर्म की भी यही पुकार है। यदि मानवता और धर्म की रक्षा नहीं हुई तो जीवन न सुरक्षित रहेगा और न जीने योग्य ही। न जाने कितने भवों में किये गये पुण्यों के प्रभाव से प्राप्त यह मानव भव भी व्यर्थ न चला जाये, यह सुनिश्चित करना हमारा पहला दायित्व होना चाहिये। हमारी संस्कृति यह सिखाती भी है कि माया आनी-जानी है, वह तोष नहीं दे सकती। आती हुई माया तृष्णा और अहंकार को जन्म देती है और कर्मबंध का कारण बनती है। जाती हुई माया निराशा और क्षोभ का कारण बनती है और इहलोक के जीवन को दुःखमय बना देती है। इसलिये हित इसी में है कि उसकी आने-जाने की स्थितियों से बचा जाय। कबीरदास ने कहा है– 'माया मरी न मन मरा, मरि-मरि गये शरीर, आशा-तृष्णा ना मरी कह गये दास कबीर।' संत हरिदास का चरित्र ऐसी ही निस्पृह मानसिकता का परिचय देता है। उनकी ख्याति सुनकर जब बादशाह अकबर ने उन्हें अपने दरबार में आने का निमंत्रण भेजा तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया– 'संतन को कहा सीकरी सों काम। आवत-जात पन्हइयाँ घिसि गईं, बिसरि गयो हरि नाम।' आत्मा को कर्मों के बंध से बचाने का यह सरलतम उपाय है कि सम्पदा के उस किसी भी रूप के प्रति आकर्षित मत होओ, जो विचारों में द्वंद्व उत्पन्न कर आत्मशक्तियों को क्षीण करता हो। यह शास्त्रवचन भी है मुक्ति की ओर जाने का सूत्र भी।



14. सच्चे धर्म का स्वरूप

प्रभु महावीर वीतरागता के सिंहासन पर आसीन हैं, गणधर गौतम स्वामी श्रीचरणों की उपासना करते हुए धर्म के महत्त्व को जानने की इच्छा व्यक्त करते हैं। प्रभु उत्तर देते हुए कहते हैं– 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं' अर्थात्– धर्म उत्कृष्ट मंगल है। प्रभु ने गौतम से कह तो दिया पर इतने से कैसे समझा जाय कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है? धर्म यदि उत्कृष्ट मंगल है तो पहले जानना होगा अमंगल क्या है? दुःख और संताप क्यों होते हैं? अमंगल व उसके कारणों को जाने बिना मंगलमय धर्म में प्रवेश कैसे होगा ?

मंगल को कैसे जाना जाय? समाधान है कि सुख का मार्ग धर्म से ही प्राप्त होता है। स्वतंत्रता धर्माकाश में ही सुलभ है। व्यक्ति जो सुगंध चाहता है वह भी धर्म की जड़ से ही मिल सकती है। धर्म की व्याख्याएँ आज इतनी हो गई हैं कि धर्म को समझना ही बोझिल हो गया है। जिसे हम मंगल मानते है उसी धर्म की आड़ में अधर्म होते हैं। धर्म बाहरी बाने में नहीं, अंतर की गहराइयों में है। प्रभु की देशना का हम स्वाध्याय करते हैं पर उन्हीं रटे-रटाये शब्दों में कह देते हैं– अहिंसा, संयम और तप धर्म है। हमने तपस्या कर ली तो क्या धर्म मिल जायेगा? प्रभु ने कहा है–

मासे-मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं।।

अर्थात् जो जीवनपर्यन्त मास-मास खमण की तपस्या करता है, और पारणे में कुशाग्र परिमाण भोजन करता है, लेकिन वह मिथ्यात्व के कारण कषायों में झुलस रहा है अतः धर्म की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है। भगवान् ने कहा, वह महान् नहीं है क्योंकि ईर्ष्या, द्वेष, आदि विभावों से ऊपर नहीं उठा है फिर कैसे समझें कि अहिंसा, संयम और तप धर्म है? कवि आनन्दघनजी भी इस दुविधा को परमात्म चरणों में व्यक्त कर रहे हैं–

हेतु विवादे हो चित्त धरी जोइए, अति दुर्गम नयवाद।
आगम वादे हो गुरु गम को नहीं, ए सब लो विषवाद।।

धर्म की परीक्षा के लिए किसी ने कहा कि उसे हेतु और विवाद से जाना जाय। लेकिन जहाँ हेतु-विवाद हैं वहाँ तर्क है और जहाँ तर्क है वहाँ धर्म के द्वार में प्रवेश नहीं हो सकता है। आगम कह रहा है—

'तक्का तत्थ न विज्जई।'

तर्क से बाहर ही बाहर परिभ्रमणा होती रहेगी। फिर किसी ने सुझाव दिया कि नयवाद का आश्रय लिया जाय। पर नयवाद तो भारी पहाड़ के समान है। रास्ता दुर्गम है तो ऐसे दुर्गम पथ पर कौन आरोहण करेगा? यदि कहें कि आगमवाद से समझा जाय तो फिर प्रश्न होता है कि आगम ज्ञान भी दुरूह है। आगम के गूढ रहस्यों को सामान्य बुद्धि से नहीं जाना जा सकता। फिर आजकल के गुरु–

'गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दांव,।
दोनूं डूबे बापड़ा, चढ़ पत्थर की नांव।

आचार्य रत्नाकर सूरि अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान थे। इतने प्रतिभा- सम्पन्न कि एक गाथा की व्याख्या छः महीने पर्यन्त करने की सामर्थ्य रखते थे। पर विडम्बना कहिए कि बाह्य यश के आकर्षण से प्रभावित हो गए। राजा ने उन्हें राजगुरु का ओहदा दे दिया। उनके लिए रत्नजड़ित पालकी आती, उसमें बैठकर वे सभा में उपस्थित होते। वस्त्रों पर भी कुछ रत्नों की जगमगाहट थी। एक गंभीर और धैर्यवान श्रावक व्यापार के निमित्त आया हुआ था। ख्याति सुनी थी तो दर्शनों के लिए पहुँच गये, सारा दृश्य देखकर अवाक् रह गया। धर्म गुरु भी इस प्रकार भुलावे में पड़ जायेंगे तो फिर सही मार्गदर्शन किससे मिलेगा? वह पूर्ण गंभीरता धारण कर पहुंचा और निवेदन किया कि भगवन् मुझे एक गाथा

का अर्थ समझाने की कृपा करें। आचार्य ने उसे शीघ्र ही अर्थ कह सुनाया। श्रावक ने कहा– मुझे अर्थ समझ नहीं आया। वह प्रतिदिन आता और आचार्य नय व्याकरण से नित्य नया अर्थ करके उसे समझाते। समय जाते देर नहीं लगती। वह लगभग 5 माह 29 दिनों तक समझता रहा तब उसने कहा– 'मुझे दुःख है कि आप जैसे समर्थ आचार्य के होते मुझे एक गाथा का संतोषप्रद अर्थ नहीं मिल पाया।' आचार्य गंभीर हुए। अपने भीतर उतरते चले गए। प्रज्ञा को झकझोरा। श्रावक ने निवेदन किया– भगवन! मैं व्यापार के निमित्त आया था। अब कल मैं जा रहा हूँ। आचार्य ने फरमाया– देवानुप्रिय! तुम कल फिर आना, मैं तुम्हें समझाऊँगा। दूसरे दिन श्रावक उपस्थित हुआ, आचार्य ने अपना जीवन परिवर्तित कर लिया था। अब वे सादी पोशाक में उपस्थित थे। श्रावक ने देखते ही कहा– 'बस-बस, मुझे अब अर्थ समझ में आ गया। अब तक आप हेतु, नय और बुद्धि से समझाते रहे पर आज आचरण से समझा दिया।' एक श्रावक ने उन्हें सही स्थिति पर पहुँचा दिया, तर्क व विवादों में वह नहीं उलझा। प्रभु महावीर ने भी कहा है 'जो मैं हूँ उसी में जीएँ,' वह स्वभाव है, जो स्वभाव है वही धर्म है। स्वभाव से बाहर जाना अधर्म है।' स्वभाव में दुःख नहीं होता। स्वभाव से बाहर गए तो दुःख होगा। दुःख आते हैं तो व्यक्ति कहता है– मैं इतना धर्म करता हूँ फिर दुःख क्यों आता है? वस्तुतः दुःख धर्म से नहीं, अधर्म से आता है। धर्म से एक इंच भी हटते हैं तो दुःख व समस्याएँ आ जाती हैं। फिर भी हम स्वरूप को छोड़कर पर की चाह करते हैं। याद रखने की बात है कि जो पर है उसे भले ही आप अपना मानकर चलिए, लेकिन वह आपका नहीं हो सकता। जो आपका है वह अलग होगा नहीं। अतः पर से हटकर स्व में स्थित बनो। चाह पर से जुड़ी रही तो जीवन धर्ममय नहीं बनेगा, आप कभी सुखी नहीं बन सकेंगे, पर की ओर चाहे कितनी भी दौड़ लगायें। पर तो कुछ भी हो सकता है, व्यक्ति, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा आदि। सन्तान की चाह जगी पर यदि वह

ठीक नहीं हुई तो क्या सुखी हो जाएंगे? कोणिक भी सन्तान ही थी राजा श्रेणिक की। क्या सम्राट श्रेणिक उससे सुखी हो गए?

ऐसे-ऐसे पिता भी हैं जिनके घर में संतानों की लाइन लगी है परन्तु वे एकान्त में बैठकर रोते हैं। वे सोचते थे– संतानें होंगी तो सेवा करेंगी बुढ़ापे का सहारा होंगी परन्तु विपरीत स्थिति देखकर दुःखी होते हैं। सोचिये उन वृद्ध पिताओं को कितनी मानसिक पीड़ा होती होगी।

एक संतान कोणिक बन गयी। सोचता है, दूसरी आ जाए और वह भी रावण-कंस जैसी हो जाए और उनसे मित्रता करने वाली हो जाय तो? साधन में व्यक्ति सुख मानता है। वह सोचता है कि घर में टी.वी. आ जाए तो सुख हो और घर में टी.वी. आ गया तो सुखी है या दुःखी? कहता है 'बच्चे रोज खराब कर देते हैं' या फिर 'बच्चे बटन दबाकर दिन भर बैठ जाते हैं और पढ़ाई-लिखाई सब ताक में।' साधन में भी सुख नहीं है। किसी के घर में बहनें फ्रिज देखकर आती है और फिर कहती हैं कि पड़ोस में सभी के यहाँ फ्रिज है परन्तु अपने यहाँ पर नहीं है। अपने यहाँ पर भी होना चाहिये। साधन नहीं है तो सुख है कि दुःख है? साधन नहीं है तो भी दुःख है, साधन हैं तो भी दुःख है। पुत्र हो, चाहे टी.वी. हो, चाहे फ्रिज हो, ये सारे पर पदार्थ हैं। इनमें ही हमने सुख माना है पर हैं ये सभी दुःख के कारण। यह तो सृष्टि का नियम है कि व्यक्ति चाह की लाइन में अपने आपको टिकाए रहता है।

एक दरिद्रनारायण ने लाटरी का टिकट खरीदा और संयोग से उसके लाटरी खुल गयी। एक करोड़ रूपये की राशि! टिकिट विक्रेता ने सोचा कभी इसने इतना धन देखा नहीं, कहीं सुनकर खुशी के मारे, हर्ष के अतिरेक से इसका हार्टफेल न हो जाए। अतः वह एक मनोचिकित्सक के पास परामर्श करने पहुँचा– यह संदेश उस व्यक्ति तक पहुँचाना है। डाक्टर ने कहा ठीक है। डाक्टर

उस दरिद्रनारायण के पास पहुँचा और उससे वार्तालाप करने लगा। उससे पूछा कि तुमने टिकट खरीदा है और यदि तुम्हारे 10 लाख की लाटरी लग गयी तो तुम क्या करोगे ? गरीब कहने लगा कि 5 लाख तुम्हें दे दूंगा। डाक्टर ने फिर पूछा कि यदि तुम्हें बीस लाख मिलें तो क्या करोगे? वह दरिद्र कहने लगा कि 10 लाख तुम्हें दे दूंगा। डाक्टर ने कुछ सोचा और फिर पूछा कि यदि 25 लाख तुम्हें मिले तो क्या करोगे? गरीब कहने लगा कि उनमें से साढ़े बारह लाख मैं तुम्हें दे दूंगा। डाक्टर ने कहा, यदि पचास लाख मिलें तो? गरीब ने कहा, पच्चीस (25) लाख आपके। डाक्टर ने फिर पूछा, एक करोड़ मिलें तो? गरीब ने कहा, पचास लाख आपके। इतना सुनते ही मनोचिकित्सक को दौरा पड़ गया। सोच रहा था– 50 लाख मुझे मिल जाएंगे। इलाज करने आया था पर स्वयं बीमार बन गया। धन मिला नहीं लेकिन प्राप्ति की आशा ने ही पागल बना दिया। गरीब को समझाने के लिए चला था पर स्वयं की समझ जाती रही। ऐसा धन, जो मिला ही न हो परन्तु जिसकी प्राप्ति की बात से ही दिल का दौरा पड़ जावे, कैसे सुखी कर सकता है? हमने धर्म की व्याख्या दी है पर धर्म कोई व्याख्या की वस्तु नहीं है, कोई समझने की चीज नहीं है। धर्म तो अनुभव करने की चीज है। उसे तो जीया जाता है। धर्म को पाना है तो पर से अपने आपको अलग करना होगा।

दार्शनिक लाओत्से के पास व्यक्ति पहुँचा और पूछा कि धर्म को हम कैसे उपलब्ध हो सकते हैं? उसने सोचा कि वह धर्म से बाहर हो गया है। लाओत्से का उत्तर था– जितना भी अधर्म है, जितना भी पर है उसको छोड़ते जाओ, धर्म को आप स्वतः ही उपलब्ध हो जाओगे। जितना-जितना अधर्म को छोड़ोगे उतना-उतना धर्म तुम्हारे अंदर प्रविष्ट होता जावेगा।

एक व्यक्ति बीमार हो गया। वह वैद्यराज के पास गया और कहने लगा– 'वैद्यजी मैं बीमार हो गया हूँ, आप मुझे अच्छी औषधि दे दीजिये। मैं स्वस्थ होना चाहता हूँ।' वैद्यजी ने कहा– 'भाई,

दवा स्वस्थ होने के लिए नहीं है, वह तो बीमारी मिटाने के लिए है। बीमारी दूर हो जायगी तो अपने आप स्वस्थ हो जाओगे।' धर्म का कोई मार्ग नहीं है। धर्म में प्रवेश करने के लिए औषधि है– अधर्म से हटते जाना पर से परे होते रहना। बस, धर्म स्वतः उद्भूत होता चला जायेगा।

एक दार्शनिक 'शार्क' ने कहा है कि दूसरा है, वह नरक है। 'पर' व्यक्ति को पतित करने वाला है। हम गहराई से चिंतन करें। प्रभु महावीर ने भी सूत्र दिया है। शार्क का कथन नेगेटिव (नकारात्मक) है, कथन के पीछे उसका आक्रोश झलकता है, परन्तु प्रभु ने कहा है अहिंसा, संयम, तप, धर्म है। धर्म ही पवित्र उत्कृष्ट मंगल है। यह कथन पोजिटिव है। सकारात्मक है, विधेयात्मक है। प्रभु ने अधर्म को अमंगल नहीं कहा है। जब कोई किसी की आकांक्षा करके आगे बढ़ता है और उसे वह नहीं मिलता है, तो वह दुःख है और जो दुःख है वह पर है।

दूसरे अर्थात् 'पर' में स्वर्ग नहीं है, सुख नहीं है, उसे नरक कहते हैं।

भगवान महावीर सूत्र दे रहे हैं 'धर्म मंगल है' यह कथन सकारात्मक है। उन्होंने यह नहीं कहा कि अमंगल धर्म नहीं है। 'अमंगल धर्म नहीं है' यह कथन नेगेटिव है। जो वस्तु का, आत्मा का स्वभाव है वह धर्म है। 'पर' में उलझने से धर्म को उपलब्ध नहीं हो पायेंगे।

मुगलकाल की एक घटना है– आमेर के राजा मानसिंह अकबर के कृपा-पात्रों में से एक थे। वे थे तो हिन्दू पर अकबर बादशाह ने उन्हें सेनापति का ओहदा दे दिया था। सेना मुगल और सेनापति हिन्दू। अकबर को सेनापति चाहिए था और मानसिंह को ओहदा चाहिये था। मानसिंह अवसरवादी बना। उनके तीन रानियां थीं। एक नैतिकता वाली शालीन, दूसरी वाक्पटु– बड़ी तेज तर्रार और तीसरी नीति वाली और निपुण थी। थीं तीनों ही पतिव्रता। पर

मानसिंह छोटी रानी पर विशेष मुग्ध था। एक बार किसी पड़ोसी देश की सेना ने हमला कर दिया। अकबर बादशाह ने मानसिंह को संदेश भिजवाया कि अमुक सेना ने हमला कर दिया है उसे आगे बढ़ने से रोकना है। मानसिंह सेना के साथ आगे बढ़ा और युद्ध करके शत्रु सेना को परास्त कर दिया। लौट कर छोटी रानी के पास पहले उसके अन्तःपुर में पहुँचा। मंगल गान गाये गये, आरती उतारी गयी, सुन्दर स्वागत किया गया और राजा को प्रसन्न कर दिया गया। वार्तालाप चल ही रहा था तभी उस छोटी रानी के मन में राजा मानसिंह को और अधिक सम्मोहित करने का विचार आया। मौका अच्छा था और ख़ुशी का माहौल था, उसका फायदा उसने उठाना चाहा। उसने कहा– स्वामिन्! यदि अन्तःपुर में भी आपका अनुशासन नहीं होगा तो आप बाहर अनुशासन कैसे रख पायेंगे! जनता को कैसे अनुशासित कर पायेंगे? मानसिंह कुछ समझ नहीं पाए, पूछा– क्यों, क्या बात हुई? रानी ने कहा कि आप तो बाहर युद्ध में पधारे थे और आपकी अनुपस्थिति में आपकी बिना आज्ञा के मंझली रानी अपने पीहर चली गई। मानसिंह को क्रोध आ गया– अच्छा, मेरी बिना आज्ञा के वो चली गई! ऐसी बात है तो हम उसकी खबर लेंगे।

दूसरे दिन मानसिंह मंझली रानी के यहाँ पहुँचे। उसने भी स्वागत की पूरी तैयारी कर रखी थी। आमोद-प्रमोद के सभी साधन मौजूद थे। सहर्ष स्वागत किया। मदिरा की प्यालियाँ खाली हुईं। राजा विचारमग्न हुआ, कल मुझे कुछ भिन्न सूचना मिली थी पर यहां का नजारा तो कुछ और ही है, आखिर पूछूं भी तो कैसे? पर पूछना तो पड़ेगा ही। राजा ने पूछा– 'क्यों प्रिये! इन दिनों तुम्हारे पीहर से क्या कोई संदेश आया?' रानी कहने लगी– 'हाँ स्वामिन! मेरे पिताजी बीमार थे, संदेश मिला, आप युद्ध में पधारे थे और आपकी अनुपस्थिति में मैं पीहर चली गयी थी। गुनाह के लिए क्षमा करें।' क्रोध में व्यक्ति अंधा होता है इसी के वशीभूत राजा ने उसी समय आदेश दे दिया—तुम्हारे इस गुनाह के लिए तुम्हें

देश निकाला दिया जाता है। तुमने हमारी अवहेलना की है। किन्तु तुमने इतने समय तक हमारे साथ रहकर हमारी सेवा की है अतः आभार स्वरूप तुम जाते समय यहां से अपनी मनचाही कोई एक वस्तु अपने साथ ले जा सकती हो। आदेश दे दिया और मदिरा के नशे में मदहोश होकर राजा तो निद्रा के आगोश में समा गए। उधर रानी ने अपनी कार्यवाही कर ली, पहुँच गयी वह राजा को लेकर अपने पीहर।

सुबह हुई, राजा की तन्द्रा टूटी। चारों ओर दृष्टि फैलायी। सोचा– मैं कहाँ हूँ? यहाँ कैसे पहुँचा? रानी पास ही में थी। प्रत्युत्तर दिया– राजन्! आप अपनी ससुराल में हैं। आपके आदेश का मैंने पालन किया और अपनी इच्छित वस्तु मैं अपने साथ ले आई हूँ।' आपसे अधिक मनचाहा मेरे लिए और क्या हो सकता है? राजा उसके समर्पण पर मुग्ध हो गया और माफ कर दिया।

यह घटना चाहे किसी भी रूप में रही हो– यदि हम धर्म को स्वीकार करना चाहते हैं तो अपनी चाहत के अनुसार आगे बढ़ें– स्वभाव की जागृति बने। यह नहीं कि हम व्यर्थ की बातों में उलझ जाएं। यदि व्यर्थ की बातों में चले गए तो धर्म में प्रवेश नहीं पा सकेंगे– 'पर' में ही उलझ कर रह जाएंगे। इसीलिए कहा है–

'उठो नव नारियो! जागो, जगाने संत आए हैं।
धर्म उपदेश यह प्यारा, सुनाने संत आए हैं॥'

सोचो, सोना है या जागना है। सोते हो तो भी कोई बात नहीं। मैं यह नहीं कहता कि सोओ मत। सोएं अवश्य, सोने में कोई बाधा नहीं है– सोएं लेकिन अपने अस्तित्व को नहीं खोएं। सोओ पर जागकर सोओ। सजग बने रहो। शरीर से सोना अलग है। उससे सोएं, आत्मा से नहीं सोएं। शरीर को विश्राम देने के लिए सोना अलग बात है किन्तु मोह-माया के तांते में ऐसे उलझे हैं कि जग-जगकर भी सो रहे हैं। पतंग अनन्त आकाश में उड़ान भरती है किन्तु डोर खींची नहीं कि वह वापस जमीन पर आ जाती

है। आत्मा रूपी पतंग को हमने उड़ाया है। पर उसकी डोर को मोह-माया के हाथ में थमा रखा है। यही कारण है कि आत्मा ऊर्ध्वगामी तो बनती है पर फिर डोर से खिंचकर जमीन पर आ जाती है, मोह-मिथ्यात्व में चली जाती है।

अरस्तू एक बहुत बड़े दार्शनिक हुए हैं। एक बार वे दर्पण में अपना चेहरा देख रहे थे। इतने में उनका एक शिष्य वहाँ जा पहुँचा और उसने वह सब देख लिया। उसे थोड़ी-सी हंसी आ गयी। अरस्तू ने उसकी हंसी को देख लिया। पर वे भी उड़ती मक्खी को पहचानने वाले थे। ऐसे गुरु से भला क्या छिप सकता था? उनका बेडौल चेहरा था– उसे देखकर शिष्य को हंसी आयी थी। अरस्तू ने कहा कि तुम्हारा सोचना ठीक है कि भला इतने कुरूप चेहरे को दर्पण में क्या देखा जाए, पर वत्स! मैं रोज चेहरे को देखकर स्वयं को सचेत करता हूँ कि अरस्तू, तुम्हारे बेडौल चेहरे जैसे तुम्हारे आचार, विचार और व्यवहार बेडौल न बन जाए, अन्यथा दुनिया तुमसे मुंह फेर लेगी। शिष्य को बोध हो गया। उसने फिर पूछा– भंते! जिसका चेहरा सुंदर है फिर उन्हें तो उसे दर्पण में देखना ही नहीं चाहिये? अरस्तु ने कहा– नहीं वत्स, उन्हें भी देखना चाहिये। देखकर विचार करना चाहिये कि जैसा सुंदर चेहरा है वैसा ही आचार, विचार और व्यवहार चलता रहे। गुण से भी सुन्दर बनें।

दार्शनिक हर बात को तर्क की कसौटी पर कसता है। प्रभु महावीर दार्शनिक नहीं थे। दार्शनिक तो तर्क की कसौटी पर चलता है, महावीर तो वैज्ञानिक थे। दर्शन की आधार शिला तर्क है, जबकि विज्ञान सूत्र पर, प्रयोग पर आधारित है। यूं अर्थात् दो हाइड्रोजन के भाग और एक ऑक्सीजन का भाग मिलकर पानी बनता है। वैज्ञानिकों को आईन्स्टीन ने सूत्र दे दिया। यदि कोई पूछे क्या प्रमाण है कि हाईड्रोजन व ऑक्सीजन अमुक तरीके से मिलकर पानी बन जायेगा? तो विज्ञान कहता है कि प्रयोगशाला में जाकर प्रयोग करके देख लो, विश्वास हो जायेगा। इसी प्रकार प्रभु ने

जो बात कही है उसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रभु तत्त्वों के साक्षात द्रष्टा थे। जैसा उन्होंने धर्म को अपने ज्ञान में देखा वैसा ही कहा है। यदि कहा जाय कि निजी स्वभाव ही धर्म है– और कोई पूछे– ऐसा क्यों? तो इसको जानने के लिए हमें भगवान् महावीर की प्रयोगशाला में जाना पड़ेगा। वह प्रयोगशाला अन्यत्र कहीं नहीं अपने स्वयं के भीतर ही मिलेगी। उसमें प्रवेश करो, आत्मानुभूति होगी। उस समय सारे दुःख-द्वंद समाप्त हो जायेंगे। वैसे ही यदि हम भगवान् महावीर के कथन को कसौटी पर कसना चाहें तो हमें भगवान महावीर की प्रयोगशाला में प्रवेश करना होगा और उस प्रयोगशाला में प्रविष्ट होते ही आनंद का एक झरना प्रवाहित होने लगेगा। हम 'पर' को छोड़कर स्वभाव में चले जाते हैं तो वहां चाहे आग माथे पर आ जाय तो कोई लेना-देना नहीं, चाहे कोई कान में कीलें ठोंके तो कोई सरोकार नहीं। कई भाई यह मानने को तैयार नहीं कि भगवान् महावीर के पैरों में खीर पकाई गयी और गजसुकमाल मुनि के सिर पर अंगारे रखे गए। क्या ऐसा संभव है? ये सब सत्य हैं, वे महापुरुष देह और आत्मा के तादात्म्य को तोड़ चुके थे। भेद विज्ञान के धरातल पर जो आगे बढ़ता है उसे दैहिक वेदना व्यथित नहीं कर सकती है।

भरत महाराज आरिसा भवन में शृंगार कर रहे थे। सारे शरीर पर आभूषण जड़े जा रहे थे। एक अंगूठी अचानक छिटक कर गिर गयी– नजर पड़ी उस अंगुली पर– बाकी सारी अंगुलियाँ चमक रही थी। क्या आज भरत की तरह देखता है कोई अपनी अंगुली को? अथवा अंगूठी के रत्नों को उतार कर?– यदि सभी रत्नजड़ित हों तो शेष अंगुलियाँ फीकी लगेंगी। भरतेश्वर ने देखा कि ये सब रत्नों की शोभा है– विचार किया कि क्या मेरी कोई शोभा नहीं है? फिर धीरे-धीरे सारे आभूषण उतार दिये। स्व में लौटे और चिंतन की इतनी गहराई में पहुँच गये कि बोध को प्राप्त कर लिया– केवली बन गए।

प्रभु ऋषभदेव का समवसरण लगा था। भगवान् से पूछा कि क्या कोई चरम शरीरी यहां पर है, जो इसी भव में मोक्षगामी है? तब प्रभु ने फरमाया कि यह भरत चक्रवर्ती इसी भव में मोक्ष जाने वाला है। सभा में बैठे एक स्वर्णकार ने सोचा कि जब राज्य-सत्ता के वैभव का उपभोग करने वाले भरत चक्रवर्ती इसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं तो फिर मेरे पास तो ऐसा कोई वैभव नहीं है। मैं भी प्रभु से अपने लिए पूछ लूँ। स्वर्णकार ने पूछा– भंते! मेरी मुक्ति कब होगी? प्रभु ने फरमाया– तुम्हें तो अभी अनेक भव करने हैं। स्वर्णकार ने सोचा कि यहां भी भाई-भतीजावाद है। भगवान् अपने ही परिवार वालों की मुक्ति बता रहे हैं। वह परमात्मा से प्रश्न कर रहा है पर उसे विश्वास नहीं हो पा रहा है। तब एक-दूसरे पर तो विश्वास करना बहुत दूर की बात है। भरत चक्रवर्ती ने उसे देख लिया था– उसके भावों को भांप लिया था। महलों में पहुँचे। अगले दिन उस स्वर्णकार को भरत चक्रवर्ती ने अपनी राजसभा में बुलवाया। वह सोचने लगा कि मेरा क्या अपराध है जो मुझे बुलाया गया है? फिर विचार किया कि और तो कुछ नहीं– मैं भगवान् की धर्म सभा में गया था और अपने-अपने बारे में प्रश्न किया था। बस, यही मेरा अपराध है। वह राजसभा में पहुँचा। भरत महाराज ने उससे कहा– भाई! यह कटोरा जो तेल से परिपूरित है, लो और इस नगर में घूमकर आओ, पर ध्यान रहे कि इसमें से तेल की एक बूंद भी बाहर नहीं गिरे अन्यथा ये जो सिपाही साथ चलेंगे वे तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देंगे। पूरे नगर को दुल्हन की तरह सजाया गया। जगह-जगह मंगलगान और वाद्य यंत्रों की मधुर ध्वनियाँ गूंज रही थी। गान, नाच, नृत्य हो रहे थे। स्वर्णकार नगर भ्रमण करके जब पुनः राजसभा में लौटा तो भरत महाराज ने पूछा कि भाई आज नगर में क्या-क्या हो रहा है– तुमने क्या-क्या देखा? स्वर्णकार कहने लगा– 'महाराज मैंने तो कुछ नहीं देखा, मेरे तो प्राण इस तेल के कटोरे में अटके हुए थे।' तब भरत कहने लगे– 'भाई, जिस तरह इस नगरी में

जो कुछ हो रहा था उसे तुम नहीं देख पाये, आकर्षक नृत्यगान आदि भी तुम्हारा चित्त चंचल नहीं कर पाए और तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र केन्द्रित रही। उसी प्रकार मैं भी छः खण्ड का राज कर रहा हूँ परन्तु उसे मैं अपने कर्तव्य की दृष्टि से कर रहा हूँ, उसमें उलझा नहीं हूँ। इस माहौल में रहकर भी मैं अपने लक्ष्य पर केन्द्रित हूँ। मेरा मानस मेरी आत्मा की ओर है। जब तक व्यक्ति इच्छाओं का गुलाम बना रहता है, वह मन का स्वामी नहीं बन सकता है। उसे उसी राह से चलना चाहिए जो आत्मा के निकट ले जाये।'

गीता में भी कहा है– 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'– सारे धर्मों को छोड़– सारे धर्म कौन से हैं– सारे धर्मों को छोड़कर एक आत्मा की शरण में आ जाओ। जो स्वभाव है वही आत्मा है, और वही मोक्ष है। जब तक स्वभाव के बाहर हैं तब तक संसार में हैं और स्वभाव में आते ही हम धर्म में आ गए– आत्मा में आ गए। यहाँ कहे गए सारे धर्म पाँच इन्द्रियों से सन्दर्भित हैं। उन्हें त्यागना है और आत्म शरण में आना है। धर्म आराधना का विषय है, केवल टेप रिकार्ड की भांति विभिन्न बातों को अपने आप में भर लेना मात्र धर्म की आराधना नहीं है। केवल पढ़ने-लिखने मात्र से मुक्ति होने वाली नहीं है। तोते को सिखा दिया जाय कि 'बिल्ली आए तो सावधान रहना, बचते रहना।' केवल इसी रटन से तोता बच नहीं जाता एवं साधक को मुक्ति मिल नहीं जाती लेकिन जब धर्म आचरण में आ जाए, स्वयं धर्म मय बन जाए उसके बाद उपदेश की भी जरूरत नहीं है।

'उद्देसो पासगस्स नत्थि' यह कथन प्रभु ने किया है, किनके लिए? जो स्वयं देखने वाले बन चुके हैं, उनके लिए। उपदेश की आवश्यकता देखने वाले के लिए नहीं है। जिन्होंने आत्मा को नहीं देखा, उपदेश केवल उन्हीं के लिए हैं। धर्म साध्य है– अहिंसा, संयम और तप साधन हैं। साधनों से साध्य और सिद्धि में तत्परता बने और अपने स्वभाव में स्थित बनें, स्थिर रहें।

15. परमात्म दर्शन का मार्ग

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव–अभि.॥1॥

अपनी इन काव्य पंक्तियों में कवि आनन्दघनजी ने सिद्धां
त पर भरते हुए प्रार्थना के स्वरूप और दर्शन की भावना दर्शा
है। वे भक्त ही नहीं ज्ञानी भी हैं और ज्ञानी भक्त कभी सांसारि
पदार्थों की मांग नहीं करता है क्योंकि वह जानता है कि सामान्
अर्थ की प्राप्ति तो बाह्य जगत से ही हो सकती है। अतः उसकी
मांग परमात्मा से करना परमात्मा के महत्त्व को कम करना है
इन पंक्तियों में ज्ञानी आनंदघनजी ने यह भी नहीं कहा है कि
मुझे दर्शन दे दीजिए। दर्शन की प्यास उन्हें है पर वे जानते हैं कि
परमात्मा भक्त के सम्मुख आकर कभी खड़े नहीं होंगे प्रत्यु
उसे ही पुरुषार्थ करना होगा। वे यह भी जान रहे हैं कि उनके
दर्शन पथ में रुकावटें बहुत हैं इसलिए उनके लिए दर्शन दुर्लभ हैं
जब तक औदायिक भाव चालू हैं, कर्म उदयावली में है और जब
तक क्षायिक भाव नहीं बन पायेगा तब तक परमात्मा के दर्शन
हो नहीं सकेंगे अतः आवश्यक है कि जो कर्म बंधे हुए हैं उनकी
परतों को हटाता रहा जाय और जिस दिन वे परतें हट जाएंगी
परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे।

परमात्मा के दर्शन की प्यास प्रायः सभी भव्य आत्माओं के
अंतर में बनी रहती है परन्तु परमात्मा के दर्शन हेतु स्वयं अपने
अंतर को खोलना होगा– धर्ममय बनना होगा। आज स्थिति यह
है कि आत्मा वैभाविक भावों में परिभ्रमण कर रही है। क्योंकि
वैसा ही हमारा विचार, व्यवहार और आचार बना हुआ है। हम
ऊपर से भले ही साधु जैसे दीखते हों पर भीतर कषाय की ज्वाला
शांत नहीं है। रावण ने ऊपर से मधुर भाव बोलकर योगी की वेशभूषा
में सीता का हरण किया था। उस समय ऊपर से वह जो कुछ दीख

जो कुछ हो रहा था उसे तुम नहीं देख पाये, आकर्षक नृत्यगान आदि भी तुम्हारा चित्त चंचल नहीं कर पाए और तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र केन्द्रित रही। उसी प्रकार मैं भी छः खण्ड का राज कर रहा हूँ परन्तु उसे मैं अपने कर्तव्य की दृष्टि से कर रहा हूँ, उसमें उलझा नहीं हूँ। इस माहौल में रहकर भी मैं अपने लक्ष्य पर केन्द्रित हूँ। मेरा मानस मेरी आत्मा की ओर है। जब तक व्यक्ति इच्छाओं का गुलाम बना रहता है, वह मन का स्वामी नहीं बन सकता है। उसे उसी राह से चलना चाहिए जो आत्मा के निकट ले जाये।'

गीता में भी कहा है– 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'– सारे धर्मों को छोड़– सारे धर्म कौन से हैं– सारे धर्मों को छोड़कर एक आत्मा की शरण में आ जाओ। जो स्वभाव है वही आत्मा है, और वही मोक्ष है। जब तक स्वभाव के बाहर हैं तब तक संसार में हैं और स्वभाव में आते ही हम धर्म में आ गए– आत्मा में आ गए। यहाँ कहे गए सारे धर्म पाँच इन्द्रियों से सन्दर्भित हैं। उन्हें त्यागना है और आत्म शरण में आना है। धर्म आराधना का विषय है, केवल टेप रिकार्ड की भांति विभिन्न बातों को अपने आप में भर लेना मात्र धर्म की आराधना नहीं है। केवल पढ़ने-लिखने मात्र से मुक्ति होने वाली नहीं है। तोते को सिखा दिया जाय कि 'बिल्ली आए तो सावधान रहना, बचते रहना।' केवल इसी रटन से तोता बच नहीं जाता एवं साधक को मुक्ति मिल नहीं जाती लेकिन जब धर्म आचरण में आ जाए, स्वयं धर्म मय बन जाए उसके बाद उपदेश की भी जरूरत नहीं है।

'उद्देसो पासगस्स नत्थि' यह कथन प्रभु ने किया है, किनके लिए? जो स्वयं देखने वाले बन चुके हैं, उनके लिए। उपदेश की आवश्यकता देखने वाले के लिए नहीं है। जिन्होंने आत्मा को नहीं देखा, उपदेश केवल उन्हीं के लिए हैं। धर्म साध्य है– अहिंसा, संयम और तप साधन हैं। साधनों से साध्य और सिद्धि में तत्परता बने और अपने स्वभाव में स्थित बनें, स्थिर रहें।

15. परमात्म दर्शन का मार्ग

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव–अभि.॥1॥

अपनी इन काव्य पंक्तियों में कवि आनन्दघनजी ने सिद्धांत का पुट भरते हुए प्रार्थना के स्वरूप और दर्शन की भावना दर्शाई है। वे भक्त ही नहीं ज्ञानी भी हैं और ज्ञानी भक्त कभी सांसारिक पदार्थों की मांग नहीं करता है क्योंकि वह जानता है कि सामान्य अर्थ की प्राप्ति तो बाह्य जगत से ही हो सकती है। अतः उसकी मांग परमात्मा से करना परमात्मा के महत्त्व को कम करना है। इन पंक्तियों में ज्ञानी आनंदघनजी ने यह भी नहीं कहा है कि मुझे दर्शन दे दीजिए। दर्शन की प्यास उन्हें है पर वे जानते हैं कि परमात्मा भक्त के सम्मुख आकर कभी खड़े नहीं होंगे प्रत्युत उसे ही पुरुषार्थ करना होगा। वे यह भी जान रहे हैं कि उनके दर्शन पथ में रुकावटें बहुत हैं इसलिए उनके लिए दर्शन दुर्लभ हैं। जब तक औदायिक भाव चालू हैं, कर्म उदयावली में है और जब तक क्षायिक भाव नहीं बन पायेगा तब तक परमात्मा के दर्शन हो नहीं सकेंगे अतः आवश्यक है कि जो कर्म बंधे हुए हैं उनकी परतों को हटाता रहा जाय और जिस दिन वे परतें हट जाएंगी, परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे।

परमात्मा के दर्शन की प्यास प्रायः सभी भव्य आत्माओं के अंतर में बनी रहती है परन्तु परमात्मा के दर्शन हेतु स्वयं अपने अंतर को टटोलना होगा– धर्ममय बनना होगा। आज स्थिति यह है कि आत्मा वैभाविक भावों में परिभ्रमण कर रही है। क्योंकि वैसा ही हमारा विचार, व्यवहार और आचार बना हुआ है। हम ऊपर से भले ही शांत बैठे दीख रहे हों पर भीतर कषाय की ज्वाला जल रही है। रावण ने ऊपर से मधुर शब्द बोलकर योगी की पोशाक में सीता का हरण किया था। उस समय ऊपर से वह जो कुछ दीख

रहा था उससे विपरीत उसका अंतर कार्य कर रहा था। तीर्थंकर देवों ने कहा है कि जब तक भीतर से सर्वज्ञता नहीं आती तब तक छद्मस्थ होने के नाते गलती होनी स्वाभाविक है पर गलती को सहजता से स्वीकार लेना वीतरागता की ओर बढ़ना है। गलती को दबाना संसार बढ़ाना है। रावण सीता को अन्तःपुर में रखना चाहता था। अशुभ कर्मों का उदय ही समझिये कि नीतिज्ञ रावण भी भ्रष्ट होने को तत्पर बना हुआ था। जैन इतिहास में उल्लिखित है– रथनेमि आत्म साधना कर रहे थे– गुफा में वे तो चरम शरीरी थे पर भोगावली कर्म के उदय का स्वतः ही योग मिला– मूसलाधार बरसात, साध्वियों का बिछुड़ना और राजमती का अनायास गुफा में प्रवेश करना। इधर गुफा में एकान्त देख वह अपने गीले वस्त्र सुखाने को उद्यत हुई– उधर रथनेमि का चित्त भग्न हो गया– क्या कोई मिट्टी का बर्तन था जो भग्न हो गया? बहिनें जब पहले पनघट से पानी लाती थीं तो कभी संयोग से रास्ते में घड़ा गिरकर भग्न हो जाता था तब उन्हें घर पर सासुजी से उपालम्भ मिलता था 'हिया फूटी' अर्थात् पहले चित्त टूटा है तभी घड़ा फूटा है। रथनेमि का चित्त साधना से विचलित हो गया। रथनेमि ने राजमती को संबोधित (आमंत्रित) किया– 'हे सुनयने! यह मनुष्य भव बार-बार नहीं मिलेगा। चलो पहले भुक्त भोगी बनें।' अब विडम्बना देखिये, योगी भी कहते हैं कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है और साधना से विचलित रथनेमि भी कह रहा है कि मनुष्य जीवन दुर्लभ है लेकिन दोनों के तात्पर्य एकदम भिन्न हैं चूंकि दोनों उस दुर्लभ जीवन का उपयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करना चाह रहे हैं।

ध्यान रखिये, यह मनुष्य जन्म रूपी दीप अनेक बार पूर्व में मिला होगा पर इस दीप में तेल-बाती होते हुए भी वह दूसरे जलते दीपक का स्पर्श नहीं पा सका। कोई बात नहीं, पश्चात्ताप मत करो– वर्तमान में दीपक, बाती, तेल सभी आपको उपलब्ध हैं और सम्मुख जलता दीपक भी है। जलालो अपनी बाती को, संसार सीमित हो जायेगा। प्रकाश पुंज तुम स्वयं बन जाओगे।

आनंदघनजी का प्रार्थना का संदर्भ इसी स्थिति से जुड़ता है। विवादों को भीतर रखकर दर्शन की भावना रखोगे तो दर्शन नहीं हो पायेंगे। दर्शन की गहरी तड़प जब हमारे भीतर जग जायेगी और उसके लिए आवश्यक पुरुषार्थ का योग यदि होता रहा तो परमात्मा के दर्शन अवश्यमेव हो जायेंगे। हाँ, एक शंका हो सकती है– यह पंचम आरा है, पंचम आरे में केवल ज्ञान नहीं हो सकता। पर पंचम आरे में भी केवल ज्ञान संहरण की अपेक्षा हो सकता है। यदि कोई देवता पूर्व बैर से महाविदेह क्षेत्र से किसी चरम शरीरी साधु को लाकर (संहरण कर) भरत क्षेत्र में रख दे और उसके अध्यवसाय विशुद्ध बन जायें तो यहाँ भी वहाँ का जन्मा मनुष्य केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। भले यहाँ जन्मे को इस समय केवलज्ञान नहीं हो फिर भी जैसे यहां बी.ए. की डिग्री प्राप्त करके फिर अन्यत्र जाकर आगे की पढ़ाई की जा सकती है वैसे ही यहाँ अभी हम इतनी साधना कर सकते हैं कि एक भवावतारी बन जायें। अभी भी अपनी साधना से हम पारदर्शी बन सकते हैं और अपनी आत्मा की अनुभूति कर सकते हैं और इसी रूप में आत्मा के दर्शन कर सकते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष दर्शन तो इन इन्द्रियों से हो नहीं सकता।

स्वामी विवेकानन्द के पास एक अंग्रेज पहुँचा और बोला– 'आपको यदि आत्मा का ज्ञान है, आत्मा पर विश्वास है तो आत्मा को निकाल कर बताओ तो मैं मान सकता हूँ कि आत्मा है।' स्वामी विवेकानन्द ने एक मुक्का जोर से उसकी पीठ पर मारा। वह अंग्रेज पूछने लगा कि यह क्या है? स्वामी विवेकानन्द मुस्कराने लगे और कहने लगे– 'मैं अभी आपको आत्मा बाहर निकाल कर बता सकता हूँ पर पहले मेरे मुक्का मारने से जो वेदना आपको हुई है वह वेदना बाहर निकाल कर बता दीजिये।' क्या वह उस वेदना को बाहर निकाल कर बता सकता था? नहीं। वेदना प्रत्यक्ष चक्षु-ग्राह्य नहीं हो सकती, उसकी अनुभूति ही होती है। यह वेदना जैसे बाहर निकालकर दिखाई नहीं जा सकती वैसे ही आत्मा भी बाहर निकालकर दिखाई नहीं जा सकती। आत्मा की अनुभूति हम अभी भी पा सकते हैं, पर तब जब हम में क्षायिक या औपशमिक

भाव की स्थिति बनेगी। प्रगाढ़ औदायिक भाव में आत्मदर्शन मुश्किल है।

एक माली के बगीचे में पौधे खड़े नहीं हो पा रहे थे, गिर-गिर जाते थे। माली ने एक व्यक्ति से, जो किसी सिद्ध पुरुष के पास जा रहा था, कहा– भाई, मेरा भी प्रश्न पूछ लेना। सिद्ध पुरुष एक बार में एक ही प्रश्न का उत्तर देता था। उस व्यक्ति को अपना भी प्रश्न पूछना था परन्तु उसने सोचा, पहले माली की समस्या का समाधान प्राप्त कर लूँ, अपना प्रश्न बाद में पूछूँगा; यह विचार करके उसने प्रश्न पूछकर समाधान प्राप्त कर लिया। इसके बाद वह माली के पास पहुँचा और उसे साथ लेकर बगीचे में गया। जमीन की खुदाई की गई तो वहाँ पर नीचे कई शिलाएँ दिखीं। उन शिलाओं को निकाल कर जमीन को समतल कर दिया गया और फिर से पौधे लगाए गये तो पौधे खड़े रहे और बढ़ गए। इसी प्रकार हमारे भीतर भी चार घनघाती कर्मों की शिलाएं हैं। उन शिलाओं को जब तक नहीं हटायेंगे तब तक आत्मदर्शन नहीं होंगे। जब तक ये शिलाएँ रहेंगी तब तक आत्मा की अनुभूति यदि कभी हो भी गई तो वापस फिसल जायेगी। फिर पुरुषार्थ होगा, फिर फिसलना संभावित होगा तब तक, जब तक उन शिलाओं को पूर्ण रूपेण हटा नहीं दिया जायेगा। तब यह समझ लेने की बात है कि आनंद की उपलब्धि अन्तर्मुखी बनने पर ही संभावित है। जीवन में समरूपता प्रदान करने वाले आनंद के शाश्वत क्षण चार घनघाती कर्म रूपी शिलाएँ दूर हटने पर ही परमात्म दर्शन के साथ उपलब्ध हो पायेंगे। तपस्या से हमारी आत्मा की शुद्धि हो, वह सिर्फ शरीर के लिए तापरूप वनकर न रह जाए, यह भी सुनिश्चित करना होगा। आत्म व्याधि के साथ शारीरिक व्याधियाँ भी शांत हो जाती हैं। परिणामी शासन प्रभाविका महासती गुलाबकंवरजी म.सा. का इस दृष्टि से उदाहरण दिया जा सकता है जो 82 दिन का संथारा, दृढ़ व उज्ज्वल परिणामों से सम्पन्न कर परमात्म दर्शन को उद्यत वने। हम भी तप के द्वारा घनघाती कर्मों की शिलाओं को हटाकर परमात्म दर्शन करने के लिए उद्यत बनें, यही अपेक्षित है।

16. आणाए मामगं धम्मं

सुमति चरणकज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी।।

साधक जब साधना हेतु उद्यत होता है तब अनेक बाधाएँ भी उपस्थित हो जाती हैं। बाधाओं को दूर कर लेने के बाद ही साधना का पथ दृष्टिगत होता है। इन बाधाओं को दूर करने हेतु प्रभु ने सूत्र दिया है– 'आणाए मामगं धम्मं' अर्थात्– आज्ञा के अनुसार आचरण ही धर्म है। आज्ञा के अनुसार आचारण से ही परीषह-उपसर्गों से पार हुआ जा सकता है। तदर्थ ही कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं सुमति चरण.....। सुमति शब्द तीर्थंकर के नाम का प्रतीक है। इसका दूसरा अर्थ 'सुष्ठु मतिर्यस्य इति सुमतिः' मति याने बुद्धि जिसकी सुन्दर बन जाती है, वह सुमति सम्पन्न कहलाता है। जिसकी बुद्धि में विपरीतता रहती है वह कुमति वाला कहा जाता है। जैसे लोक-व्यवहार में पिता की आज्ञाओं और भावनाओं का पालक पुत्र सुपुत्र तथा स्वच्छंद, व्यसन में लिप्त, पिता की भावनाओं की अवहेलना करने वाला पुत्र कुपुत्र कहलाता है उसी प्रकार जिसकी बुद्धि स्वभाव में आगे बढ़ रही है वह सुमति है और जिसकी बुद्धि वैभाविक परिणामों में बढ़ रही है वह कुमति है। सुमति के बाद शब्द आया है– 'चरण'। चरण शब्द के भी भिन्न-भिन्नअर्थ होते हैं। श्लोक की एक पंक्ति, पैर एवं चारित्र– ये सभी चरण संज्ञा से अभिहित होते हैं। प्रसंगानुसार इस शब्द की अर्थ-योजना इस रूप में हो सकती है– सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में अपनी आत्मा को अर्पित कर दो। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि परमात्मा पद प्राप्ति की जो श्रेणियाँ हैं उनका प्रथम सोपान है सम्यक्त्व, उसके प्रति निर्मल दृष्टि (मति) से आत्मा का अर्पण हो; तीसरा अर्थ है कि जिसकी मति में कुमति का लवलेश भी नहीं है, ऐसे सुमतिसम्पन्न, चारित्रशील चरणों में आत्मा को

अर्पित कर दो। आज व्यक्ति संतों से मांगलिक पाठ श्रवण करता है। अरिहन्ते सरणं पवज्जामि... । पवज्जामि क्रिया है उसका तात्पर्य है– मैं अपनी आत्मा को अरिहंतों की शरण में उपस्थित करता हूँ। जबकि आत्मा को उपस्थित करने की बात संत कह रहे हैं तो श्रवणकर्ता केवल सुन रहा है। फिर श्रवणकर्ता का प्रयोजन कैसे सिद्ध हो? एक दिगम्बर विद्वान संत-दर्शन के लिए जाते, स्वयं ही मांगलिक पाठ बोलकर रवाना हो जाते थे। व्यक्तियों ने कहा– भाई, यह कैसी बात है? उन्होंने कहा– 'भाई, साधु ही साधु की शरण को क्या स्वीकार करेगा? यह तो है ही श्रावकों के लिए। श्रावकों को ही उच्चारण करना चाहिए।' बात विचारणीय है। विचार करने पर स्थिति स्पष्ट हो सकती है। कोर्ट के नियमों को न जानने वाला व्यक्ति वकील की शरण लेता है और कोर्ट में वह वकील ही पैरवी करता है किन्तु फैसले का संबंध व्यक्ति से होता है, वकील से नहीं। दो पार्टियों के संबंध से माल बिकवाने वाला दलाल अपना कमीशन प्राप्त करता है किन्तु पार्टी के लाभ-हानि से उसका संबंध नहीं होता। इसी तरह साधु आपके प्रतिनिधित्व से शरण में अपनी आत्मा को उपस्थित करता है, अतः आपका समर्पण उस माध्यम से स्वयमेव हो ही जाता है। आप संत-चरण में समर्पित हैं अतः संत से अभिन्न हैं। समर्पण का स्वरूप कैसा हो? संत कबीर ने भी कहा है–

ये तन विष की वेल्लवी, गुरू अमृत की खान।
शीश दियां जो गुरू मिले, तो भी सस्ता जान।।

शीश दिए बिना समर्पण नहीं होता है। कबीर ने शीश (मस्तक) के समर्पण की बात कही है। कवि आनन्दघनजी आत्मा के समर्पण की वात कह रहे हैं। गुरु ही देव के स्वरूप तक पहुँचाने वाले हैं। चार शरणों में गुरु भी एक शरण हैं, जो मोक्ष तक पहुँचाने वाले हैं। समर्पण के लिए ही प्रभु ने 'आणाए मामगं धम्मं' की वात कही है। चिंतन करें, प्रभु आज्ञा के प्रति हमारा समर्पण कैसा है?

जैन सिद्धांत के प्रकाण्ड विद्वान, अनेक ग्रंथों के प्रणेता उपाध्याय यशोविजयजी की विद्वत्ता अद्भुत थी। जैन साहित्य में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। तत्कालीन वाद-विवादों में उन्होंने विजयश्री हासिल की थी। विजय की प्रतीक अनेक यशोपताकाएँ उन्हें प्राप्त थीं जिन्हें वे व्याख्यान के समय स्थापना के साथ स्थापित किया करते थे। उपाध्यायजी की प्रज्ञा कितनी सूक्ष्म थी, इसके संबंध में कहा जाता है कि यदि सौ पीतल की कटोरियों को लकड़ी आदि के माध्यम से झंकृत किया जाय और इस प्रक्रिया के पश्चात यदि मध्य में से किसी कटोरी को पुनः झंकृत कर पूछा जाय तो वे उस झंकार के माध्यम से कटोरी का नंबर बता देते थे। ऐसी पैनी बुद्धि थी उनकी। यशोपताकाओं पर कई व्यक्तियों की नजर गई पर उनका पूछने का साहस न हुआ। गुरु आध्यात्मिक क्षेत्र का नेता है। गुरु का क्षेत्र व दायित्व अलग प्रकार का होता है। गुरु की उपेक्षा में भी शिष्य का हित ही सन्निहित होता है। जैसे बहनें चक्की (बर्फी) बनाते समय चाशनी देखती हैं उसी प्रकार गुरु कभी प्रशंसा के माध्यम से और कभी उपेक्षा माध्यम से, चाशनी देखते हैं और योग्यता की परख करते हैं। एक साधक आध्यात्मिक ज्ञान पाने की इच्छा से गुरु चरणों में पहुँचा। गुरु ने 'सोऽहं' का सूत्र देकर कहा– अमुक कमरे में एक वर्ष तक इसका जाप करो। साधक जाप करने लगा। गुरु ने एक मेहतरानी से कह दिया– अमुक दिन वह व्यक्ति आयेगा, तुम उसे अपनी झाड़ू का स्पर्श करा देना। वर्ष पूर्ण होने पर, स्नानादि से निवृत्त हो, स्वच्छ पोशाक में शिष्य गुरु के पास जाने हेतु प्रस्थित हुआ। पूर्व निर्धारित योजनानुसार मेहतरानी के द्वारा झाड़ू के स्पर्श होते ही शिष्य को क्रोध आ गया। उसने मेहतरानी को फटकार लगाई और पुनः गंगास्नान हेतु रवाना हो गया। इधर मेहतरानी ने गुरु को घटना बयान कर दी। शिष्य जब गुरु-चरणों में उपस्थित हुआ तब गुरु ने पुनः एक वर्ष की जप-साधना का निर्देश दे दिया। शिष्य चला गया। पुनः एक वर्ष की समाप्ति पर शिष्य गुरु-चरणों में उपस्थित

हो रहा था कि इस बार मेहतरानी ने कुछ अशुचि का स्पर्श करा दिया। पहले तो वह मौन रहा था किन्तु पुनः दूसरी बार अशुचि का स्पर्श होने पर उसे गुस्सा आ ही गया। उसने फिर फटकार लगाई और गंगास्नान हेतु प्रस्थित हो गया। इस बार भी गुरु ने संतुष्टि न दिखाई और पुनः साधना में नियोजित कर दिया। शिष्य जाप करने हेतु उद्यत हुआ, अनुप्रेक्षा जाग्रत हुई– 'अवश्य मेरा पुरुषार्थ सही नहीं है। घड़ी के कांटे की तरह मैं चक्र में ही घूम रहा हूँ। अन्यथा गुरु पुनः-पुनः क्यों निर्देशित करते।' जाप चलता रहा– सोऽहं कौन? पहचान हो गई– 'अरे, वह मैं ही हूँ। चक्षु उद्घाटित हो गए, अनहद जाप की अवस्था उपलब्ध हो गई। वर्ष पूरा हुआ, गुरु-चरणों की ओर प्रस्थित हुआ। मेहतरानी को निर्देश था– इस बार पूरा टोकरा उलटना है। उसका मन शंकित हुआ, न जाने क्या प्रतिफल होगा ? पर गुरु ने उसे कहा- सती कभी श्राप देती नहीं और असती का श्राप लगता नहीं' यह कहकर समाहित कर दिया। मेहतरानी आश्चर्यान्वित, टोकरा उलटने पर भी शांति भंग नहीं, अपितु शिष्य कहने लगा– बहिन, तुम उपकारी हो, मेरी परिचर्या कर रही हो। तुम्हारे सहयोग के बिना इस अवस्था की उपलब्धि संभव नहीं थी। आज शुद्धिकरण की भी जरूरत नहीं रही। वह उसी अवस्था में गुरु-चरणों में पहुँच गया। गुरु ने गद्गद् होते हुए उसे बांहों में भर लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरु की उपेक्षा के क्षण भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि इस प्रकार वे शिष्य की संवेदनशीलता की परीक्षा लेते हैं। इसी प्रकार सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तारों के माध्यम से गुरु चाशनी देखते हैं।

वात चल रही थी यशोविजयजी की। उनके पास एक वृद्ध महिला पहुँची। अनुभवी महिला ने प्रश्न किया– भंते! आप तो वहुत विद्वान हैं, पर क्या गणधर गौतम भी इतने विद्वान थे? उपाध्याय यशोविजय ने उत्तर दिया– माँजी! गणधर गौतम के सामने मैं क्या हूँ? वृद्धा ने फिर प्रश्न किया– और भगवान महावीर? उपाध्यायजी का उत्तर था– माँजी ! प्रभु तो ज्ञान के समुद्र हैं, मेरा

अस्तित्व तो बूंद मात्र भी नहीं। वृद्धा ने फिर प्रश्न किया– भंते! फिर गणधर गौतम व भगवान महावीर के कितनी यशोपताकाएँ लगती थीं? वृद्धा के प्रश्न ने उपाध्यायजी के अंतर के तारों को झंकृत कर दिया। टेलीविजन के कार्यक्रम को जिस प्रकार रिमोट के माध्यम से कंट्रोल करते हैं, वृद्धा के शब्दों ने उपाध्यायजी के विचारों को उसी प्रकार प्रेरित कर दिया। यशोविजयजी को अपनी स्खलना का एहसास हो गया और उन्होंने तत्क्षण सभी पताकाएँ तोड़कर फेंक दी। तब समझें कि प्रज्ञा भी परीषह हो सकती है और ज्ञान का भी अजीर्ण हो सकता है– 'अहं' के रूप में। वृद्धा ने उस अहं को पराजित कर दिया था और वह उपाध्यायज़ी को प्रज्ञा के सही स्तर पर ले आई थी। महासती राजमती ने भी कहा था– 'धिरत्थु तेऽजसोकामी.....', अर्थात् हे अपयश के कामी! तुम्हें धिक्कार है। तीर्थंकरों ने इन वचनों को 'संजयाए सुभासियं' सूक्ति वचन कहा है क्योंकि उसकी मति सुमति थी। शब्दों की गहराई में पहुँचकर हम उनकी उपयोगिता ज्ञात कर सकते हैं। प्रभु द्वारा प्रदत्त 'आणाए मामगं धम्मं' सूत्र से आचरणयोग्य धर्मों का आचरण करें तो हम सपूत कहलाने के अधिकारी बनेंगे और सुमति के साथ चारित्र पर गति करें तो प्रभु की देशना हमारे भीतर भी दिव्य ज्योति जाग्रत कर सकेगी।



17. परमात्म शरण कैसे

सुमति चरण कज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी, सु.
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी, सु. ॥1॥

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने प्रत्येक भव्यात्मा के उद्धार के लिए जो देशना दी है, वह अत्यंत उपादेय है। प्रभु द्वारा दर्शाये हुए मार्ग पर प्रवृत्ति करने वाला ही आज्ञा का आराधक कहलाता है।

कवि आनंदघनजी भी परमात्मा के चरणों में अपनी भावना व्यक्त कर रहे हैं। हम परमात्मा के चरणों में आत्मा का समर्पण कैसे करें? हमारी वाचिक समर्पणा परमात्मा के चरणों में होती है। हम वचन से तो तल्लीन, लवलीन हो जाते हैं पर हमारा अंतर उसमें भीगा या नहीं, आप्लावित हुआ या नहीं, यह देखना अत्यंत आवश्यक है। यदि आप्लावित नहीं हुआ तो समर्पणा बन नहीं पायेगी। एक बार एक छोटा-सा पत्थर मेघ से टक्कर लेने लगा। उसने मेघ को चुनौती दी कि तूं मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। पुष्कलावर्त मेघ ने भी कहा– देखता हूँ, मैं एक ही वर्षा में तेरा सत्यानाश कर दूँगा, तेरे अस्तित्व को चूर-चूर कर दूँगा। मेघ घनघोर रूप में बरसा, सभी तरफ त्राहि-त्राहि होने लगी। लगातार सात दिनों तक पानी बरसता रहा। सभी सोचने लगे कि अब मेघ रुक जाए तो अच्छा है। सात दिन बाद मेघ रुका। मेघ ने सोचा कि उस पत्थर को देख आऊँ, अब तक तो चूर-चूर हो गया होगा। पर यह क्या! पत्थर तो ज्यों का त्यों पड़ा था और उपहासपूर्वक मेघ की ओर देख रहा था। मेघ के मुख पर विस्मय के चिह्न देख कर पत्थर ने अट्टहासपूर्वक कहा– 'मेरा तो कुछ भी नहीं बिगड़ा है।'

उस मग्रशैल पत्थर के भीतर पानी प्रवेश नहीं कर सकता। पत्थर ने मेघ से कहा– तुम्हारे पानी ने मुझे चमक दी है, मेरी रज को साफ किया है, पर मुझे गला नहीं पाया है। सात दिन तो क्या, सात माह, सात वर्ष तक भी तुम बरसो तो भी मुझे नहीं

गला सकते। मेरे भीतर एक बूंद भी नहीं पहुँचा सकते हो। ऐसी ही यदि हमारी भी स्थिति रही, वर्षों तक बाहर से ही प्रार्थना की गई पर अन्तर नहीं भीगा तो समझो कि समर्पण की बात मात्र दिखावा थी।

हम परमात्मा के चरणों में उपस्थित होना चाहते हैं, पर परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग संकरा है। संकरे रास्ते में दोनों ओर से आने वाले वाहनों से बाधा उत्पन्न होती है। 'वन वे' अथवा एक तरफा यातायात है। ओवर-टेक की भी गुंजाइश नहीं, दो वाहन साथ-साथ भी पार नहीं हो सकते। ऐसे मार्ग के बारे में कहा गया है– 'प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहिं।' तब परमात्मा तक पहुँचने के लिये हमें अकेले ही मार्ग पर चलना होगा और क्रोधादि कषायों व राग-द्वेष रूपी मित्रों को छोड़ना होगा। राग-द्वेष के कारण ही शरीर का अस्तित्व है। इन्हें छोड़ने पर शरीर तो स्वयमेव छूट जायेगा।

आज तो एक नई समस्या और पैदा हो गई है। विज्ञान की प्रगति के साथ भय की भी वृद्धि हुई है। एक राष्ट्रपति के चारों ओर भी कड़ी सुरक्षा व्यवस्था होती है। जब उससे मिलना हो तो कोई मेटल साथ में रखकर उस मार्ग पर नहीं जाया जा सकता। मेटल डिटेक्टर मार्ग में ही रोक देगा। सुमति भी कषाय रूप मेटल को साथ में लेकर चलने वाले को परमात्म-पथ पर नहीं जाने देगी। मेटल (धातु) शस्त्र का प्रतीक है। जब राष्ट्रपति से भी सशस्त्र मिलना मुमकिन नहीं तो फिर परमात्मा से सशस्त्र कैसे मिला जा सकता है? विचार होगा, शस्त्र कौन से? प्रभु ने कहा है– जो मन, वचन, काया खुले हैं, कषाय हैं, वे सब भाव-शस्त्र हैं। इन अनेक मित्रों के रहते प्रभु से मिलाप नहीं हो सकता। वस्तुतः ये मित्र नहीं हैं, पर हमने इन्हें मित्र मान रखा है, ये ही हमारे पतन का कारण हैं। इन हथियारों के प्रयोग से फतह की भावना सफल न होने पायेगी। इन विभाव अवस्थाओं का परित्याग करना होगा। इनके साथ में होने से परमात्मा के रम्य स्थल की पवित्रता भंग हो जायेगी।

वैकुण्ठ में जाने हेतु इस गंदगी का त्याग अनिवार्य है। परन्तु इन में रम जाने वाले तथा इनमें ही सुख-संतोष समझने वालों को प्रबोध देकर सन्मार्ग पर ला पाना कितना कठिन है, इससे संबंधित एक वृत्तांत है। स्वर्ग के देव-देवी एक बार भ्रमणार्थ निकले। सहसा देवी की दृष्टि नीचे की ओर गई। देखा, गंदे गटर में एक भंडसूरी अपने बच्चों के साथ पड़ी हुई है। उस गंदगी का ही आहार ग्रहण कर रही है। देवी से रहा न गया। अरे, यह भी क्या जीवन है! उसका उद्धार होना चाहिये। उन्होंने देव से उसे स्वर्ग में ले चलने की प्रार्थना की। देव ने ननुनच किया पर देवी के सामने उसकी कुछ न चली। भंडसूरी से कहा– चलो स्वर्ग में। उसने पूछा– क्या वहाँ भी ऐसे गटर की सुविधा उपलब्ध है? देव ने कहा– स्वर्ग में गटर का क्या प्रयोजन? उत्तर था– यदि गटर नहीं तो मुझे ऐसा स्वर्ग नहीं चाहिए। तब यह स्पष्ट है कि इन अवस्थाओं में ही आनंद मानने वाला न परमात्म-शरण को पा सकता, न ही अपने शाश्वत स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। परमात्म-भाव में प्रवेश पाने हेतु इन विभावों को छोड़ना ही होगा।

हमारी एक बड़ी समस्या यह है कि हम छोटी-छोटी बातों पर मानसिक द्वंद्वों में उलझ जाते हैं। द्वंद्वों के साम्राज्य से आज विरला घर ही बच पाया होगा। ऐसी ही एक घटना है। कुण्डेरा ग्राम में पूज्य गुरुदेव (आचार्य नानेश) का पधारना हुआ। विहार के अवसर पर क्षमायाचना करते हुए पूज्य भगवान् ने फरमाया कि यदि आप में किन्हीं के बीच मतमुटाव की स्थिति हो, तो मुझे भिक्षा में प्रदान कर दो। हम संत हैं, कहीं जंगल में छोड़ देंगे। गांव में दो भाइयों के परिवारों के बीच तनाव था। भाई तो सरल हृदय वाले थे। मान गए, पर घर की महिलाओं में अभी सामंजस्य नहीं बना था। जेठानी ने कहा– मैं देवरानी की देहली नहीं चढ़ूंगी। हाँ, गुरुदेव! आप कहें तो तेला, पचोला, अठाई कर सकती हूं। गुरुदेव ने समझाया– बहिनों, तपस्या तो चाहे आप कई मासखमण भी कर लो पर आराधक नहीं हो पाओगी। और मन में इन अनन्तानुबंधी आदि

कषाय के रहते आयु बंध हो गया तो... ।' बहिन थोकड़ों की जानकार थी। तथ्य को समझने लगी। प्रभु ने भी 'आणाए मामगं धम्मं' का सूत्र दिया है। गुरुदेव भी नीति वाक्य फरमाते हैं–

उदीरतोऽर्थः पशुनाऽपिः गृह्यते, हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः, परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः॥

टोरने के लिये टिचकारी गायादि को दी जाती है जिसे सुनकर जानवर मार्ग छोड़ कर किनारे हो जाता है। हाथी, घोड़ा आदि पशु भी संकेत से समझ जाते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये। यदि मनुष्य को भी उन्हीं के समान इशारा करना पड़े तो फिर पशु में और मानव में क्या अंतर हुआ? जो कहे बिना ही गुरु के निर्देशों के प्रति समर्पित रहे, वही विनीत कहलाता है। वही पण्डित कहलाता है समझदार के लिए इशारा ही काफी होता है। बहिन ने भी बात समझ ली और परिवार में प्रेम तथा शांति का वातावरण स्थापित हो गया।

कभी-कभी बात सामान्य होती है फिर भी कई व्यक्ति गाँठ बांध लेते हैं। पाँच-सात बर्तन भी इकट्ठे पड़े हों तो वे खड़खड़ा ही जाते हैं। कपड़े में जुएं भी पड़ जाती हैं। पर इतने मात्र से न तो बर्तन ही फेंके जाते हैं और न कपड़े ही, वल्कि उन्हें व्यवस्थित करके उपयोग में लिया जाता है। इसी प्रकार जहाँ पाँच आदमी होते हैं वहाँ कई प्रकार की बातें हो सकती हैं, समझदार व्यक्ति काम की बात ग्रहण कर लेता है पर गाँठ नहीं बाँधता क्योंकि गाँठ अथवा मनोग्रन्थि के रहते परमात्म-पथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। जैसे पानी के लिए रबर के जो पाईप काम में लिए जाते हैं, यदि उसमें कभी आंटी पड़ जाए, ग्रंथि पड़ जाए, तो क्या पानी प्रवाहित हो पाएगा? नहीं। वैसे ही जब तक भीतर ग्रंथी बनी रहेगी, आत्मा ऊर्ध्वारोहण नहीं कर पायेगी। उसके भीतर शांति/सुख का झरना प्रवाहित नहीं हो सकेगा।

एक दृष्टांत है। एक कलाकार समान आकृति वाली तीन मूर्तियाँ लेकर राज सभा में पहुँचा और कहा कि मैं इन्हें बेचना चाहता हूँ, पर तीनों का मूल्य अलग-अलग है। राजा असमंजस में पड़ गया। सभी सभासदों ने भी देखा कि तीनों एक समान हैं। कोई अंतर उनमें नहीं था। वे समझ नहीं पा रहे थे कि फिर मूल्य में अंतर क्यों था? एक वृद्ध पुरुष उठा, उसने मूर्तियाँ उठाई और देखा, कहने लगा– 'राजन! मैं कुछ प्रयोग करना चाहता हूँ।' उसने एक मूर्ति के कान में तार डाला तो वह दूसरे कान से निकल गया। उसने कहा– यह मूर्ति मूल्यहीन है। फिर उसने दूसरी मूर्ति के कान में तार डाला। वह उसके मुँह से बाहर निकल गया। इस पर उसने कहा– इसकी कीमत सौ अशर्फियाँ हो सकती हैं। परन्तु उसने जब तीसरी मूर्ति के कान में तार डाला तो वह उसके पेट में चला गया। वृद्ध पुरुष ने कहा– 'राजन्! इसकी तो कीमत आंकी ही नहीं जा सकती।' इस दृष्टांत में गूढ़ अर्थ निहित है जो ज्ञान अथवा उपदेश के प्रति तीन तरह की प्रतिक्रियाओं तथा उनके परिणामों पर टिप्पणी करता है। एक व्यक्ति परमात्मा का भक्त होने का दावा करता है परन्तु ज्ञान अथवा भक्ति की बात को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देता है, उसे अंतर में नहीं उतारता इसलिए उसे मकरन्द नहीं मिलता। जिसके अन्तर में वीतराग वाणी नहीं उतरे, उसकी तपस्या, साधना सब निरर्थक है।

दूसरा व्यक्ति वीतराग वाणी को अपने हृदय में नहीं उतारता, मात्र उसकी प्ररूपणा करता है पर अभी उसे आचरण में उतार नहीं पाया। ऐसा व्यक्ति सज्जन है जो उस वाणी को कभी जीवन में उतार भी सकता है।

परन्तु तीसरा व्यक्ति श्रवण कर उसे अपने हृदय में उतारता है, उसे आत्मसात् कर लेता है। ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से भवसागर से पार हो जाता है। वह पवित्र संसारी हो सकता है। कवि ने भी कहा है–

'एक वचन श्री सद्गुरु केरो, जो पैठे दिल मांय रे प्राणी।
नरक निगोद मां ते नहीं जावे, एम कहे जिन राय रे प्राणी।
साधुजी ने वंदना नित-नित कीजे प्रातः उगन्ते सूर रे प्राणी ॥'

जो इधर सुनकर उधर निकालता है, उस जैसे यदि हम हुए तो हमारी क्या स्थिति बनेगी। हम सुनते तो हैं, पर उन मित्रों का साथ छोड़ने को तैयार नहीं होते तो हम प्रभु-प्राप्ति की संकड़ी गली में प्रवेश नहीं पा सकते चाहे तपस्यादि कुछ भी कर लें। इसके विपरीत हमने यदि एक शब्द भी आचरण में उतार लिया तो सुमति के सहारे परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। कई भाई सोचते हैं— पर्यूषण आने वाले हैं, पर्यूषणों में खमा लेंगे। पर्यूषण की प्रतीक्षा करते-करते यदि आयुष्य बंध हो गया, अनंतानुबंधी की स्थिति में, तो कहीं नरक के मेहमान तो नहीं बन जाएंगे? यदि गूढ़ माया रही तो तिर्यंच आयु का भी बंध हो सकता है। अतः यदि कषाय नहीं गला तो तपस्या चाहे मासखमण की हो, उसकी कोई सार्थकता नहीं है। सुमति के अभाव में यदि कषाय परिणामों में ही रहे तो आराधना नहीं हो सकेगी। एक साधक पहुँचा गुरु के चरणों में। कहने लगा— 'भंते! मैं संलेखना करना चाहता हूँ।' गुरु ने शिष्य से कहा— 'पतला करो' (सुखाओ)। एक दिन, दो दिन, एक माह, इस तरह से समय निकल गया और एक वर्ष बीत गया। शिष्य पुनः गुरु के समीप आया। गुरु ने फिर वही उत्तर दिया 'पतला करो'। शिष्य को क्रोध आ गया, क्या पतला करूँ— काया कृश हो चुकी है, हड्डियों का केवल ढाँचा दिखाई दे रहा है। अंगुली आदि शरीर के अवयवों की ऐसी स्थिति बन गई है कि जरा-सी मोड़ते ही टूट जाय। उसने अंगुली मोड़ी, वह सुखे डण्ठल की तरह टूट गई। आवेश में वह कहने लगा— 'अब और क्या पतला करूँ?' तब गुरु ने समझाया— 'वत्स! यही तो भूल है, जिसे पतला करना है उसे तुम कृश नहीं कर रहे हो, बल्कि मात्र शरीर को कृश कर रहे हो। कषायों को कृश किए बिना आराधना नहीं हो पाएगी। 'कोहो पीइं पणासेइ' अर्थात् क्रोध परमात्मा के प्रति हमारे में रही

हुई प्रीति का नाश भी करता है।' सोचिये एक बिल्ली है जो रोज-रोज आकर घर का सारा दूध पी जाती है, तो क्या ऐसी बिल्ली को आप घर में पालकर रखोगे? बिल्ली रूपी कषाय प्रीति रूपी दूध पीने वाला है, उसे निकालना ही होगा। क्रोध व अहंकार माया के सहारे टिके हुए हैं। मायारूप आंटी को निकाले बगैर क्रोध व अहं से मुक्ति नहीं मिलेगी। न ही सद्गुणों के प्रवाह-रूप प्राणों का बहाव हो पायेगा। सुमति भी यही कह रही है कि इस माया की आंटी को मत पकड़ो।

चंचल बंदर घूमता हुआ आया, कुंजे में हाथ डालकर भूंगड़े मुट्ठी में भर लिये। अब हाथ बाहर नहीं निकलता। लोगों ने कहा– भाई, मुट्ठी खोल दो। पर वह राजी नहीं होता। कुंजा भी न फूटे, मुट्ठी भी न खोलनी पड़े और हाथ भी निकलना आये। सुमति कह रही है– यह तो मुमकिन नहीं। दुनिया में रहना है तो 'नदी-नाव संयोग' की तरह रहो। मैत्री भाव से रहो। मैत्री का रूपक बनेगा कैसे? पहले परिवार में, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और फिर सभी प्राणियों के साथ मैत्री सध जायेगी तो फिर सुमति स्वयं तुम्हें परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देगी। स्वयं से आंटी दूर नहीं होती है तो सुमति रूपी संतों के योग से आंटी को दूर कर दो। ग्रंथि को खोल दो। ऐसा ही एक सच्चा प्रसंग है। दो भाइयों का वह परिवार आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। कारणिक दृष्टि से गुरुदेव का वहाँ विराजना हुआ। विहार के समय गुरुदेव ने खमतखामणा की बात कही और कहा कि किसी का कुछ हो तो मेरी झोली में डाल दो। बड़ा भाई समाज के अगुआ व्यक्तियों में था। छोटे भाई के साथ मनमुटाव का कुछ प्रसंग चल रहा था और परस्पर आना-जाना बंद था। पास में बैठे लोगों ने उन से कहा– 'गुरुदेव कांई कै रचा है।' समझदार के लिए संकेत काफी होता है। व्याख्यान के पश्चात् वे उठे, गुरुदेव के चरण स्पर्श किए और कहा 'मैं जा रहा हूँ। गुरुदेव ने समझा– कुछ काम होगा, जा रहे होंगे। वे शीघ्र ही बाहर निकल गए। कार में बैठे। छोटे

भाई के घर पहुँचे। छोटा भाई भी घर आया। बड़े भाई ने कहा– ला जीवा, चाय पिला दे। कहिए, उस वक्त छोटा भाई मुकर तो नहीं जायेगा। क्षमा वही कर सकता है जो महान् है।

एक पौराणिक आख्यान है। भृगु ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। शिव को भी मानते थे। पर विष्णु को नहीं देखा था। विचार उत्पन्न हुआ कि तीनों में कौन महान् है, देखना चाहिए। पहुँचे ब्रह्मा के पास। नमस्कार नहीं किया। ब्रह्माजी ने विचार किया– अरे, मेरा ही पुत्र भरी सभा में मेरा अपमान कर रहा है! अपमान का घूंट पीकर रह गये। फिर भृगु पहुँचे कैलाश पर्वत पर। शिवजी का कटु शब्दों में आह्वान किया। आवेश में आकर शिवजी भृगु के पीछे दौड़े, पर वह बच कर निकल गये और पहुँचे जहाँ विष्णु शेष नाग पर सोये हुए थे। लक्ष्मीजी उनके पैर दबा रही थी। भृगु ने आव देखा न ताव, विष्णुजी की छाती पर पैर से प्रहार करते हुए कहने लगे– 'अरे यह समय सोने का है? सोते रहेंगे तो सृष्टि के संचालन का दायित्व सही रूप में कैसे वहन करेंगे?' प्रहार से विष्णु उठ बैठे। भृगु के पैरों को हाथ से सहलाते हुए कहा– 'मेरे वक्षस्थल की कठोर अस्थियों से तुम्हारे कोमल पैर में आघात तो नहीं लगा?' तभी तो कहा है–

क्षमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात।।

प्रसंग किसी रूप में हुआ हो किन्तु हमारे भीतर भी तीन शक्तियाँ क्रियाशील हैं– तामसी वृत्ति, राजसी वृत्ति व सात्विक वृत्ति।

महाराष्ट्र की घटना है– पूज्य गुरुदेव विहार कर रहे थे, गाँव के भाई भी साथ में थे। एक भाई अपने पुत्र को साथ लाया था। कहने लगा, म.सा. इसको भी साथ ले जाओ। महाराज (संत) बना देना। गुरुदेव ने कहा– भाई बात तो बहुत अच्छी है, पर तुम ऐसा किस कारण कर रहे हो? उसने कहा– 'महाराज साहब! यह बहुत उद्दण्ड है, अपनी मां व मुझ पर भी हाथ उठा लेता है।'

गुरुदेव ने कहा– अच्छा भाई, तुम पति-पत्नी तो कभी नहीं लड़ते। उस भाई ने कहा– गुरुदेव, गुस्सा तो मुझे भी बहुत आता है। मैं भी इसकी माँ पर प्रहार कर दिया करता हूँ। तब गुरुदेव ने कहा– 'भाई, इस पर संस्कारों का आरोपण ऐसे ही हुआ है। प्रहार करना इसने आप से ही सीखा है। बच्चे तो अनुकरणशील होते हैं।' टेलीविजन में देखा और वे भी धनुष बनाकर 'जय श्री राम' कहकर तीर छोड़ने लगे। हनुमान ने छलांग लगाई। बालक ने देखा और 'जय श्री राम' की शरण लेकर 3/4 मंजिल से कूद गया। परिणाम क्या हुआ होगा, आप अनुमान लगा सकते हैं। हाँ, तो गुरुदेव ने भी उस बहिन को समझाया कि कषाय की स्थिति में आयुष्य बंध हुआ तो क्या गति होगी। कवि इसीलिए तो कह रहा है– 'चेतन चेतो रे दश बोल जगत में मुश्किल मिल्या रे, चेतन...'। अरे भाई मेटासीन की गोली से ज्वर को दूर कर दो। मलेरिया भी कुनेन से दूर हो सकता है किन्तु यदि मस्तिष्क ज्वर की स्थिति बन गई तो हालात गम्भीर हो जायेगी। माया से परे हटो, नहीं तो सम्यक्त्व न टिकने पायेगा और सम्यक्त्व के बिना परमात्म-दर्शन नहीं हो पाएंगे। मैं मित्र की भांति कह रहा हूँ– इस माया रूपी आंटी को निकाल फेंको। जो पहल करेगा वही सच्चा साधक होगा। वृहत्कल्प सूत्र में भी कहा है– जो उवसमइ तस्स होई आराहणा। अर्थात् 'जो उपशम करता है उसकी ही आराधना होती है।' पाक्षिक खमतखामणा नहीं की तो साधुत्व, चौमासी क्षमायाचना नहीं हुई तो श्रावकत्व और संवत्सरी पर भी मनमुटाव न मिटा तो फिर सम्यक्त्व नहीं टिक पायेगा। तीसरी मूर्ति की भाँति हृदय में इस बात को उतार लिया तो हृदय-शुद्धि हो जायेगी और सुमति रूप पहरेदार हमें परमात्म-शरण उपलब्ध करा देगा।



18. धर्म और राष्ट्रीयता

प्रत्येक आत्मा स्वतंत्रता की इच्छुक होती है, स्वाधीन रहने की भावना प्रत्येक मन में हिलोरें लेती रहती है परन्तु प्रभु महावीर सूत्र में कहते हैं 'आणाए मामगं धम्मं।' अर्थात् आज्ञा में रहना मेरा धर्म है। यह तीर्थंकर देवों का नहीं, आत्मा का धर्म है। बात अटपटी है– स्वतंत्रता के इच्छुक को अधीन रखना और अधीनता में धर्म आराधना बताना। यदि परतंत्रता में धर्म होता, परतंत्रता अभिलषित अवस्था होती तो फिर संसार में स्वतंत्रता के लिये भीषण संघर्ष क्यों होते? उस स्थिति में महात्मा गांधी और देश के अनेक सपूतों को अपनी कुर्बानी देने की आवश्यकता ही क्या होती? महात्मा गांधी ने भारत को स्वतंत्र कराया, यह बात किन्हीं अर्थों में यथार्थ है पर यह देन गांधी के साथ ही बलिदानी विभूतियों की आहुति से ही संभव हुई। कड़ी से कड़ी जुड़ी और अंत में वह कड़ी महात्मा गांधी की योजना के साथ जुड़कर स्वतंत्रता के रूप में फलित हुई। प्रश्न यह है कि हम क्यों नहीं चाहते अपने ऊपर किसी का शासन? कोई अन्य क्यों अनुशासन करे या राज्य करे? हम 'पर' के शासन से मुक्त होना क्यों चाहते हैं? इसलिए ताकि हम स्वधर्म की पालना में स्वतंत्र हो सकें। 'पर' 'स्व' पर अंकुश लगाकर उसकी गतिविधियों को नियंत्रित और निर्देशित करने लगता है और यह स्थिति आत्मोत्थान की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करती है। इसलिए इससे मुक्ति की आवश्यकता होती है। वैसे हम जानते हैं कि इस विश्व में पूर्ण स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं है। व्यक्ति परिवार के बंधन में बंधता है, परिवार समाज के, समाज राष्ट्र के, राष्ट्र विश्व के और विश्व एकात्मता के बंधन में बंधता है। इस बंधन के कारण ही इनकी अर्थवत्ता एवं सार्थकता है। आत्मा को इसी महिमा को रेखांकित करने के लिए प्रभु महावीर ने ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की बात कही है। यदि ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि सुरक्षित नहीं हैं तो हम आत्मा के धर्म की रक्षा में भी सफल नहीं

हो सकेंगे और संसार में अराजकता व्याप्त हो जायेगी। देश को ब्रिटिश शासन की अराजकता से मुक्ति दिलाने के लिए ही स्वतंत्रता आंदोलन चलाया गया था।

हमें स्वतंत्रता कब मिली? सन् 1947 की 14 अगस्त को रात्रि में 11 बजकर 59 मिनट पर स्वतंत्रता के दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए गए और 15 अगस्त का सूर्योदय स्वतंत्रता का प्रथम सूर्योदय बना। अतः 15 अगस्त को स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाता है। हो सकता है, उस सूर्योदय में मनुष्यों का उत्साह, उमंग, अलग ही तरह का रहा हो, पर देखना यह है कि आज राष्ट्रीय भावना जगती है या नहीं? ऐसा तो नहीं कि हम उत्साहहीन हो गये हों, बड़े-बड़े बलिदानों के बाद प्राप्त स्वतंत्रता का मूल्य भूल गये हों और आज मात्र औपचारिकता ही निभा रहे हों? मंदिर में ढोल बजाने का रिवाज है, लगता है कि उसी रिवाज की तरह ही हम स्कूली कार्यक्रम, झंडा फहराना, राष्ट्रगीत-गान, प्रतिज्ञा-ग्रहण, सलामी, राष्ट्र के नाम संदेश-प्रसारण आदि कार्यक्रम सम्पन्न कर रहे हैं।

स्वतंत्रता के इतने वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी देश की दशा नहीं सुधरी है। ऐसा क्यों है? क्या हमने कभी पीछे पलटकर भी देखा है? स्वतंत्र भारत में पैदा हुआ शिशु आज युवा ही नहीं, प्रौढ़ बन चुका है। इस अवस्था तक पहुँच कर भी यदि कोई युवक माता-पिता की अभिलाषा की पूर्ति न कर पाये तो फिर ऐसी सन्तान से भविष्य के लिए क्या आशा रखी जाये? आज से 20-40 वर्ष पहले जो नारा दिया गया था 'गरीबी हटाओ', आज भी वही नारा दिया जा रहा है। इतने वर्षों में भी गरीबी हटाई नहीं जा सकी है। चिन्तन करता हूँ तो महसूस होता है कि हम स्वतंत्र नहीं हुए हैं, केवल व्यवस्था का नाम बदला है। एक आवाज उठी– 'भारत गरीब देश है' और हमने इस बात को मनो-मस्तिष्क में अंकित कर लिया। इस प्रकार की हीन भावनाओं की पुष्टि जारी है। इस बात को क्यों भुला दिया जाता है कि भारत सोने की चिड़िया भी

कहलाता था। भारत की भूमि में कितने रत्न, कितनी धातुएँ छिपी हैं, इसका हमें ज्ञान ही नहीं है। भारतीय युवक, जिन्होंने विदेशों में वैज्ञानिक ओहदे प्राप्त किए हैं, सूझबूझ से खोज (शोध) में लगे हुए हैं, पर हमारे मस्तिष्क में जमे हीन विचार आत्मविश्वास के अभाव में निकल नहीं पा रहे हैं। पहले हम 8 घंटे कार्य करते थे पर आज सुविधावाद में पड़कर आराम की अभीप्सा से हम 6 घंटे ही कार्य करते हैं। वह भी बेमन से और अधूरा। क्या छः घण्टे ही कार्य किया जाना चाहिए? क्या ईमानदारी की किसी भी स्तर पर आवश्यकता नहीं है? हराम में कितना समय बर्बाद हो रहा है! आवश्यकता है पुरुषार्थ व परिश्रम करने की। जापान का उदाहरण हमारे सामने है। द्वितीय विश्वयुद्ध में सर्वस्व नष्ट हो जाने के बाद वहाँ के नागरिकों ने ईमानदारी से 16 व 18 घंटे के कठोर परिश्रम से अपने देश का सम्पूर्ण रूप से पुनर्निर्माण कर लिया। जबकि स्वतंत्रता के इतने वर्ष बाद भी भारत माता सिसक रही है परन्तु उसके रुदन की किसी को चिन्ता नहीं है। बेईमानी और भ्रष्टाचार में लिप्त इसके जुम्मेदार नागरिक हवाला कांड एवं बोफोर्स काण्ड जैसे न जाने कितने कांडों की ख्याति अर्जित कर रहे हैं। क्या यही राष्ट्रीय भावना है? जब व्यक्ति में भीषण लिप्सा जाग्रत होती है तब वह उसकी पूर्ति हेतु लूट-पाट और अपराध जैसे कोई भी घृणित कार्य करने से नहीं चूकता। यह लिप्सा या तृष्णा धन-सम्पत्ति की हो, आवश्यक नहीं। पद, अधिकार अथवा ख्यातिप्राप्ति हेतु भी अविवेकी मनुष्य गर्हित आचरण का आश्रय ले सकता है। सुरक्षा संबंधी गुप्त सूचनाएँ शत्रु देश को देना, तस्करी, अपहरण, अपराधी संगठनों का गठन, चुनाव में जीत के लिए धांधली, विविध प्रकार की आतंकवादी गतिविधियाँ आदि तृष्णापूर्ति के साधनों के रूप में ऐसे लोगों का साधन बनती हैं। हम यह शिकायत तो बहुत करते हैं कि आजादी के इतने वर्षों में देश ने हमें क्या दिया परन्तु अपने आप से नहीं पूछते कि आजादी के इतने वर्षों को हमने क्या दिया अथवा हमारे जीवन के इतने वर्षों से देश की आजादी को क्या मिला? यह सब राष्ट्रीय भावना के अभाव का परिणाम है।

इसलिए राष्ट्रप्रेम के संस्कार जाग्रत किये जाने चाहिए, तभी इस भ्रष्टाचार और अपराध वृत्ति से छुटकारा मिलेगा। देशवासी इस दिशा में अविलम्ब सक्रिय हो जायें, यह समय की सबसे बड़ी माँग है। निश्चय ही, नेताओं और प्रशासकों को भी यह सब सीखना पड़ेगा परन्तु वे भी तो जनता में से चुन कर आते हैं। यदि जनता सजग और चरित्रवान होगी तो उसके बीच से आने वाले नेता वैसे ही कैसे नहीं होंगे?

एक दृष्टांत है। एक नरेश जनता की सुख-सुविधा का बहुत खयाल रखने वाले थे। उन्होंने अपना सारा खजाना जनता के सुख के लिए न्योछावर कर दिया था। पड़ोसी सम्राट को ज्ञात हुआ कि अमुक नरेश का खजाना खाली हो गया है। वह पहुँचा उनके पास। वार्तालाप के दौरान कहने लगा– यदि इस तरह खजाना लुटा दिया गया तो फिर संकट में राज्य की सुरक्षा कैसे हो सकेगी ? स्मित हास्य बिखेरते हुए नरेश ने कहा– आपका कहना ठीक है। संध्या के समय नगर में घोषणा करा दी गई कि 'राज्य-सुरक्षा कोष के लिए 3 लाख स्वर्ण मुद्राओं की जरूरत है। जिसकी भावना बने, वह अपनी राशि राजकोष में जमा करा दे।' पड़ोसी सम्राट ने भी सुना। कहने लगा– 'मित्र! क्या कभी ऐसे पैसे इकट्ठे किए जाते हैं? तुमने तो कर भी माफ कर रखा है।' लेकिन उसने आश्चर्यपूर्वक देखा कि सूर्योदय के समय से ही जनता की लंबी कतारें स्वर्ण मुद्राएँ जमा कराने के लिए लगी हुई थीं। कोषपति ने आकर नरेश को सूचित किया– राजन्, 13 लाख स्वर्ण मुद्रा एकत्र हो चुकी हैं और अभी भी लोग लम्बी कतार में खड़े हैं। 3 तो क्या 30 और 300 लाख स्वर्ण मुद्राएँ देने के लिए भी जनता तत्पर है।' इस प्रकार राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की जाती है। आज भारत कर्ज में आकण्ठ डूबा हुआ है और जनता और नेता दोनों अपना घर भरने में लगे हैं। यदि जनता और नेता जाग जायें तो एक पैसे का कर्ज भी न रहे।

संविधान की निर्धारित नीतियाँ तत्कालीन परिस्थितियों के

अनुरूप थीं। गरीब तबके को सुविधा देने के पीछे उद्देश्य यह था कि उसे भी सहारा देकर सबकी बराबरी में खड़ा किया जाये। पर वे घिसी-पिटी नीतियाँ आज अहं व प्रभुता का पोषण कर राष्ट्रीयता की भावना को नष्ट कर रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत ऐसे संविधान का निर्माण हो, जो देश में अमन-चैन ला सके। जो भारत महापुरुषों की भूमि और विश्व का गुरु रहा है, आज उसे संसार में सभी जगह अपमानित होना पड़ रहा है। संकुचित मनोवृत्ति और स्वार्थपरता का त्याग कर राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानने की मानसिकता का हम विकास करें, अन्यथा प्रगति और समृद्धि के जो अनेक कार्यक्रम बनाये जा रहे हैं वे मात्र दिखावा, प्रचार और लेबल बन कर रह जायेंगे। यदि भीतरी पदार्थ अर्थात् मानसिकता न बदली तो लेबल बदलने से क्या होना जाना है ? अतः मूल के सुधार हेतु हमें उद्यत होना होगा। आज धर्म के नाम पर, तथा वर्ग और जाति के आधार पर भेद किये जा रहे हैं। इस भेदपरक मानसिकता को बदलना होगा। जातिवाद के कारण प्रतिभाओं का सही मूल्यांकन नहीं होता फिर भारत का उत्कर्ष कैसे होगा? जब संचालक मस्तिष्क ही रुग्ण हो गया हो तो व्यवस्था-रूप शरीर कैसे स्वस्थ रह सकता है ? हमारा आत्मविश्वास जागे, हम 16 से 18 घंटे श्रम करें और अपनी तथा देश की प्रगति में योग दें– यह आज की आवश्यकता है।

एक विदेशी घुमक्कड़ भारत-भ्रमण पर आया था। अपने अनुभव को उसने एक लेख में लिपिबद्ध किया है। वह लिखता है– 'मुझे भारत में गरीबी कहीं नजर नहीं आई, भारत में अमीर ही अमीर हैं। मैं जहां से गुजरा, चौराहों पर लोग गपशप लगा रहे थे, टी.वी. देख रहे थे, ताश खेल रहे थे, शराब में मस्त थे, मौज-शौक मना रहे थे। गरीब व्यक्ति इतना फ्री नहीं हो सकता।' भारतीय लोगों की मानसिकता और जीवनशैली पर यह अत्यंत सटीक टिप्पणी है। हम यथार्थ चिन्तन करें कि कितना समय हम व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं ? यदि इसी शक्ति का प्रवाह सर्जन की दिशा

में मोड़ दिया जाय तो भारत को चमकाने में कितनी सहायता मिलेगी ! एक अभियान चलाया जाना चाहिये। यदि एक व्यक्ति आगे आएगा तो कई हाथ और कंधे उसके साथ जुड़ जायेंगे। स्वतंत्रता आंदोलन के प्रारंभ में मुट्ठी भर लोग ही थे। धीरे-धीरे एक-एक ने जुड़कर उसे देशव्यापी रूप प्रदान कर दिया। हमें क्रांति करनी है। खूनी क्रांति नहीं, सर्जनात्मक क्रांति। यह होगी आत्मविश्वास के वल पर।

प्रभु महावीर की वाणी का मर्म यहाँ समझ में आता है। उन्होंने जो आज्ञा में रहने की वात कही थी, उसका तात्पर्य आत्मा की आज्ञा में रहने से था– स्वतंत्रता का निषेध उन्होंने कहीं नहीं किया है। उनके सिद्धांतों में स्वतंत्रता के बीज बिखरे हुए हैं। जब भी साधक पहुँचते और कहते– 'भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो वेले-बेले का तप करना चाहता हूँ' तो उनका उत्तर होता– 'अहासुहं देवाणुप्पिया।' बात चाहे साधु से संबंधित हो, चाहे श्रावक से, उनका निर्देश होता– अहासुहं (तुम्हें जैसा सुख हो)। जितनी शक्ति हो अवश्य करो। आखिर प्रभु ने शक्ति की वात क्यों कही ? इसलिये कि वे यह स्पष्ट करना चाहते थे कि उपलब्ध शक्ति का पूरा उपयोग होना चाहिए। वे बताना चाहते थे कि शक्ति का गोपन भी पाप है। आज व्यक्ति राजकीय संस्थान की नौकरी चाहता है। आखिर क्यों? वहाँ सुविधा बहुत है और क्षमता अनुसार काम करने का कोई बंधन नहीं। लेकिन याद रहे, सुविधाओं के बीच प्रतिभा का विकास संभव नहीं है। श्रम की वेदी पर चढ़ कर ही कुछ पाया जा सकता है। न्यायालय में केस चलते रहते हैं। पीढ़ियाँ तक गुजर जाती है। दोनों पक्षों के घर बरबाद हो जाते हैं पर फाईलें निर्णीत नहीं हो पातीं। व्यवस्था की लड़खड़ाहट का नमूना तो देखिए! पर जहां सक्षम व्यक्ति हैं वहां फटाफट फैसला कैसे होता है, यह भी लोग जानते ही होंगे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली उक्ति हर जगह चरितार्थ हो रही है।

प्रभु महावीर के समय की बात है। कोणिक सम्राट अपने

छोटे भाई बहिलकुमार के प्रति आक्रान्ता बन गया। बहिलकुमार ने अपने नाना चेडा महाराज की शरण ली। कोणिक ने संवाद भेजा कि हार, हाथी सहित बहिलकुमार को भेज दिया जाय अन्यथा मैं युद्ध करूँगा। श्रावक व्रतधारी चेडा महाराज ने विचार किया, बहिलकुमार शरणार्थी है। कोणिक इसके अधिकार का हनन करना चाहता है। 18 गणराज्यों के अधिपति चेडा ने बैठक बुलाई। 18 ही नरेशों से वार्तालाप हुआ। निष्कर्ष यही निकला– शरणार्थी की रक्षा हमारा कर्तव्य है। युद्ध प्रारम्भ हो गया। प्रभु की अहिंसा कायरता नहीं है। साधु 3 करण 3 योग से अहिंसा का परिपालन करता है। श्रावक भी यथा सामर्थ्य अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए अहिंसा की अनुपालना करता है। निरपराधी की हिंसा नहीं पर आक्रांता के अत्याचार का प्रतिकार करना भी आवश्यक होता है। श्रावक वरुण नागनतुआ बेले-बेले का तप करता था पर तप की आड़ में कर्तव्य को विस्मृत नहीं किया। युद्ध का आमंत्रण मिलने पर वरुण नागनतुआ बेले के स्थान पर तेले का प्रत्याख्यान कर युद्धस्थल पर पहुँच गया। तीर्थंकरों की संस्कृति में कायरता का कोई स्थान नहीं है। हां, यह अलग बात है कि व्यक्ति कायरता का बाना ओढ़ ले। युद्ध में अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग होता है। आज कुछ ऐसा विश्वास बन गया है कि प्रचुर आयुधों से ही विजय प्राप्त होती है। पर इतिहास साक्षी है– मुगल सम्राट की बड़ी सैन्य शक्ति का सामना महाराणा की छोटी सैन्य टुकड़ी ने किया। उसका मनोबल दृढ़ था, मातृभूमि के प्रति लगाव था; रणबांकुरे टूट पड़े, भूख-प्यास की भी परवाह नहीं की। काश, ऐसा मातृभूमि का लगाव आज फिर जग जाये! आज तो भारत माता सिसकियाँ भर रही है। पर उसकी चिन्ता किसे है? क्या भारत माता की जय बोलते रहने मात्र से भारत माता की विजय हो जायेगी? वह सुखी हो जायेगी?

धर्म आत्मसमर्पण की बात कहता है। वह आत्मा अथवा समाज के सदस्य व्यक्ति के कर्तव्य का एक पक्ष है। जो लोग उस क्षेत्र

में बहुत आगे बढ़ने में समर्थ न हों, उन्हें अपनी शेष क्षमता का उपयोग राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने कर्तव्य पालन के रूप में करना चाहिए। पूज्य ज्योतिर्धर जवाहराचार्य का काल अंग्रेजों के शासन का काल था। आचार्यदेव राष्ट्रधर्म की पालना के विषय में खुल कर बोलते थे। श्रावकों को भय रहता था। निवेदन किया– आप ऐसे उद्‌गारों को बंद कर दें, अंग्रेज सरकार का खुफिया तंत्र आपके पीछे लगा हुआ है। आचार्यदेव ने कहा– मैं साधु हूँ, भाषा समिति से युक्त मर्यादित भाषा उच्चरित करता हूँ– मर्यादा का उल्लंघन कर एक लफ्ज भी नहीं। फिर भी यदि अंग्रेजी सरकार मुझे जेल में बंद कर दे तो सत्य कहते हुए जेल में जाना गौरव की ही बात होगी। महात्मा गांधी, सरदार वल्लभ भाई पटेल, लोकमान्य तिलक जैसे चोटी के नेता समय-समय पर पहुँचकर आपसे परामर्श करते थे। महात्मा गांधी ने ही कहा था, 'भारत में दो जवाहर हैं। एक राष्ट्र का नेता, दूसरा धर्म का नेता।' उन्होंने कहा था कि 'जैसे घड़ी के भीतर की मशीन द्वारा कांटे क्रियाशील होते हैं– वैसे ही आप (आचार्यश्री जवाहर) राष्ट्रीय धरातल पर भीतर की मशीन की भांति हैं, नेहरू बाह्य कांटों के रूप में ।' बात राष्ट्रीय भावना के हृदय में उत्पन्न होने की है, अन्यथा हम राष्ट्रीयता के गीत कितने ही गाएं, कोई उपलब्धि नहीं होने वाली है। जब बीज ही नहीं होंगे तो सिंचन से क्या फलित होगा? माता आपकी कुर्बानी नहीं चाहती आपको कर्तव्य की वेदी पर खड़ा देखना चाहती है, वैसा आप करके दिखाइये। यह काम दृढ़ मनोबल से ही संभव है। मनोबल की क्षीणता से हम स्वच्छंद बने हैं और स्वच्छंद अवस्था में व्यक्ति छिन्न-भिन्न हो जाता है। परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिए अनुशासन को स्वीकारना होगा। 'पर' की अधीनता को छोड़कर 'स्व' के अधीन बनें। अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग होकर आत्मविश्वास को अपनाएं। साथ ही पूज्य आचार्यश्री नानेश द्वारा संकेतित समता के धरातल को दृढ़ करें, उसमें सह-अस्तित्व और सहिष्णुता के भाव भी जोड़ें। और इस प्रकार आत्मस्वातंत्र्य की भावना को प्रशस्त कर राजनीतिक स्वतंत्रता को सार्थक करें।

19. स्वाध्याय का आनंद

पठन और अध्ययन सामान्य क्रियाएँ हैं। इनसे सदा ही कुछ प्राप्त हो जाये, यह आवश्यक नहीं है। यदि ये सही दिशा में होंगी और इनके पीछे विवेक होगा तभी इनकी कोई सार्थकता होगी। तभी इनका फल मिलेगा। ऐसा इसलिये है क्योंकि पठन और अध्ययन शब्दों के आधार पर अथवा उनके माध्यम से होता है। शब्दों से कुछ अर्थ ध्वनित होते हैं जो भाव की दिशा में जाते हैं। शब्द तो अपने आप में जड़ हैं। उनका कोई उपयोग, अर्थ और भाव निकालने की दृष्टि से ही हैं और यह अर्थ या भाव क्या, कैसा और कितना निकलता है, यह पढ़ने वाले की बुद्धि, विवेक, ग्रहणशीलता और अनुभव पर निर्भर करता है। हम उस नीति कथा से परिचित है जिसमें मूर्ख राजपुत्र ने अपने ज्योतिषीय ज्ञान के आधार पर मुट्ठी में चक्की का पाट होने की बात कही थी। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्योतिष के ज्ञान द्वारा उसने यह तो सही पता लगा लिया था कि उसके पिता, राजा की मुट्ठी में कोई गोल वस्तु है जिसमें धातु और पत्थर साथ-साथ जड़े हुए हैं। परन्तु विवेक के अभाव में वह यह नहीं सोच पाया कि मुट्ठी में चक्की का पाट कैसे समा सकता है ? वह मुट्ठी में अंगूठी होने की बात नहीं बता सका, यह न तो गुरु के शिक्षण में कमी का प्रमाण है, न प्रदत्त ज्ञान में आधिकारिकता की कमी का, न राजकुमार की अध्ययन की कमी का, अपितु उसमें बुद्धि तत्त्व के अभाव का प्रमाण है। प्रभु महावीर के कथनों और आगम वचनों के संबंध में भी यही सत्य है। प्रभु ने आत्म साधकों को पूर्ण स्वतंत्रता दी है और 'आणाए मामगं धम्मं' की भी बात कही है। स्वतंत्रता में आज्ञा-पालन, स्वतंत्रता भी और आज्ञा-पालन की बाध्यता भी ? बात विचारणीय है। प्रभु ने साधकों से कहा– 'अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह।' अर्थात् देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो पर धर्म-कार्य में प्रतिबंध (विलम्ब) मत करो। पर यह किसके लिए, कब

कहा? जो आत्मा अपने आत्मानुशासन में आ गई है उसके लिए। आगम व्यवहारी के लिए सूत्र आज्ञा अनिवार्य नहीं है। दशवैकालिक सूत्र में निर्देश किया गया है कि 'साधु वेश्याओं के मोहल्ले में गमन न करे, अन्यथा लोक-व्यवहार में संशय बनेगा। एक घर में भी ग्लान के लिए पथ्य आदि कारणों के सिवाय बार-बार नहीं जाये तो फिर वेश्या के स्थान पर जाने की बात ही कहाँ उत्पन्न होती है? पर दूसरी ओर स्थूलिभद्र मुनि वेश्या की रंगशाला में चातुर्मास करने की आज्ञा मांग रहे हैं। उस रंगशाला में 'सज्झाएणं भंते जीवे किं जणयइ?' 'आणाए मामगं धम्मं' जैसे सूक्ति वाक्य नहीं लिखे हुए होंगे पर फिर भी गुरु ने अनुमति दे दी। क्या उन्होंने दशवैकालिक के निर्देशानुसार प्रभु आज्ञा का उल्लंघन किया? नहीं। आगम-व्यवहारी सूत्रों से ऊपर उठकर अपने ज्ञान में जैसा देखता है, वैसा आचरण करता है। उसके लिए सूत्र निर्दिष्ट नियम लागू नहीं होते किन्तु सभी के लिए यह बात नहीं है। सामान्य साधक को तो जो कानून है, नियमावली है, समाचारी है, उसका ही पालन करना होता है। जमाली, जो प्रभु के शिष्य थे तो दामाद भी थे, प्रभु से कह रहे हैं– भंते! आपकी आज्ञा हो तो मैं 500 शिष्यों के साथ जनपद में विचरण करना चाहता हूँ। प्रभु मौन रहे, अहासुहं नहीं कहा। और वास्तव में यह विहार नुकसानदायी ही हुआ, वे प्रभु की धर्म प्रज्ञप्ति से भटक गए। विहार चल रहा था, कुछ अस्वस्थ हो गए, शिष्यों को आसन बिछाने का निर्देश किया। शिष्य कार्य में संलग्न हुए। जमाली ने पूछा– आसन बिछ गया? सकारात्मक उत्तर सुनकर जमाली वहाँ पहुँचे। पर यह क्या, आसन तो बिछाया जा रहा था! वे अस्वस्थ तो थे ही, हृदय में अन्यथा भाव उपजे– बिछा नहीं फिर भी 'हाँ' कह दिया! शिष्यों ने निवेदन किया– [illegible], कार्य प्रारंभ कर दिया है इसलिए 'हाँ' कह दिया। जमाली के चिन्तन चला– प्रभु ने कहा यह सत्य नहीं है। यह प्रत्यक्ष में विरोध दिख रहा है। जो क्रिया चल रही हो उसे सम्पन्न कैसे माना जाय? प्रभु के सिद्धांत में संशय हो गया। प्रभु ने कहे

कह दिया? चिन्तन की गहराई में उतरे बिना हम हार्द को नहीं समझ पाएंगे। एक स्थूल दृष्टांत समझने का प्रायास करें। कोई व्यक्ति निम्बाहेड़ा के लिए रवाना हो गया, पहुँचा नहीं, पर हम कहते हैं, वह निम्बाहेड़ा गया। यह व्यवहार की अपेक्षा कथन है पर प्रभु का कथन व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। चलमाणे शब्द में 'माण' प्रत्यय वर्तमान कालिक क्रिया का प्रतीक है। चलमाणे अर्थात् चलता हुआ। चल रहा है। चलना प्रारंभ हुआ। साथ में 'चलिए' का संयुक्तीकरण। यह क्रिया की पूर्णता का द्योतक है। 'करता हुआ' और 'करली' में अन्तर्विरोध प्रतिभासित होता है। हम भी चिन्तन करें कि वर्तमान में क्रिया चल रही है फिर उसकी संपन्नता कैसी? समाधान के लिए गहराई में उतरना होगा, न्याय की परिभाषा के अनुसार समझना होगा। कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। कार्य अर्थात् जो निष्पन्न हो गया और कारण अर्थात् कार्य के लिए की जाने वाली क्रिया। एक साध्य है, दूसरा साधन– जैसे मोक्ष साध्य है तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन हैं। कारण व कार्य के बीच यदि समय का व्यवधान हो तो कारण से कार्य संपन्न नहीं हो सकेगा। समय बहुत सूक्ष्म है, स्थूल रूप से उसे इस प्रकार समझ लें, दूध में शक्कर से मिठास आई। यह मिठास कार्य है। शक्कर कारण। अग्नि की आँच में दूध को उबाला गया, दूध गरम करने में समय लगेगा पर क्रिया का प्रारंभ प्रथम समय में ही हो गया। नल के नीचे रखा गया घड़ा भरने में प्रथम बूंद भी कारण है, यदि कहा जाय कि सारी बूंदों ने घड़ा भरा है तो फिर यदि प्रथम बूंद उसे नहीं भरती तो अंतिम बूंद से घड़ा कैसे भरता? इसी तरह चलमाणे चलिए में कारण-कार्य संबंध है। प्रभु की वाणी में हीरे, मोती, रत्न भरे पड़े हैं।

आपके घर में दादाजी के समय की तिजोरी है, उसमें ताला नहीं है, बंद पड़ी है। उसको खोलने के लिए नम्बर मिलाने पड़ते हैं, नंबर नहीं मिलेंगे तो चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाए, क्या खुलेगी तिजोरी? वह नहीं खुल सकती। उसे खोलने के लिए तो

उसका सही नम्बर मिलाना ही पड़ेगा।

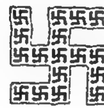
जोधपुर नरेश महाराज तखतसिंह को एक दिन पुराने कागजों को देखते हुए एक दस्तावेज उपलब्ध हुआ जो पूर्वजों के हस्ताक्षरों से युक्त था। उसमें लिखा था 'खादु और मकराने के बीच खजाना गड़ा है। वक्त पर काम में लिया जा सकता है।' महाराज के हृदय में वह खजाना प्राप्त करने की आकांक्षा जागी। दीवान आदि विश्वसनीय व्यक्तियों को बुलाया गया– सारी बात रखी गई पर प्रश्न हुआ खजाना कैसे खोजा जाये ? खादु व मकराने के बीच लगभग 30 मील की दूरी है। इतनी भूमि खोदने पर जनता के मन में भी संशय उत्पन्न होगा। निर्धारित स्थान ज्ञात नहीं। तब दीवान बच्छराजजी सिंगी ने निवेदन किया– बीकानेर नरेश के पास मेरे दामाद श्री जसवंतसिंहजी बैद हैं जो अत्यंत प्रतिभासंपन्न हैं। यह कागज या तो वहाँ पहुँचाया जाये या लिवाजमा भेजकर उन्हें बुलाया जाय। संभव है, संकेतों का तात्पर्य वे बता सकें।' राजकीय आदेश के अनुसार शाही लिवाजमे के साथ आदर-सत्कारपूर्वक उन्हें लिवा लाया गया। जोधपुर नरेश, दीवान व श्री जसवंतसिंहजी बैठे। दस्तावेज प्रस्तुत कर सारी बात उनके सामने रखी गई, चिन्तन हुआ। खजाना 30 मील की दूरी पर तो रखा नहीं जायेगा। संकेत को समझना होगा। सांकेतिक लिपि, द्वंद्वपूर्ण मानसिकता में, एकाग्रता के अभाव में नहीं पढ़ी जा सकती। प्रखर प्रतिभा भी एकाग्रता की अपेक्षा रखती है। आज आगमों के गूढ़ रहस्य हम क्यों नहीं समझ पाते हैं? अर्थ-मागधी भाषा का हिन्दी अनुवाद हो गया पर हम लापरवाह बन गये। जब जरूरत हुई, शास्त्र के पन्ने उलट-पुलट कर देख लिए। गुरु-चरणों में बैठ कर स्वाध्याय करने की प्रवृत्ति छूट गई। पर ध्यान रहे, नीतिशास्त्र में कहा है–

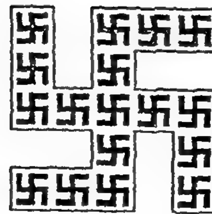
पुस्तकं प्रत्ययाधीतं, नाधीतं गुरु सन्निधे।
सभा मध्ये न शोभन्ते, जार गर्भ इव स्त्रियाः॥

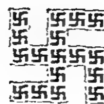
जो केवल पुस्तकें पढ़कर पंडित बना है, गुरु सान्निध्य में शास्त्राध्ययन नहीं किया है, वह विद्वत् सभा में उसी प्रकार लगता है जैसे जार-गर्भ धारण करने वाली स्त्री। जैन शास्त्र का आदेश है कि शास्त्राध्ययन 'गुरुणम' गुरु सन्निधि में होना चाहिए। गुरु निर्देश में होना चाहिए। आज हिन्दी अनुवादों में भी एकरूपता नहीं। अतः संशय की गुंजाइश हो गई कि सही क्या मानें? जो भी हो, पढ़ने की आदत तो डालनी ही पड़ेगी और फिर जो कुछ पढ़ें, सही पढ़ें। दृष्टिकोण भी सही होना चाहिये। दीवान ने दस्तावेज देखा और इजाजत माँगी– मैं राजमहल में घूमना चाहता हूँ। नरेश विचार करने लगे, 'लिखा है खादु और मकराने के बीच....और ये राजमहल में घूमना चाहते हैं।' पर काम तो करवाना था, अतः इजाजत मिल गई। एक स्थान पर दीवानजी ठिठक गये– अन्नदाता, खजाना यहीं है। पूर्वज बुद्धिमान थे, सोचा होगा– संकेत है तो पढ़ने वाले भी मिल जावेंगे। अन्नदाता, आपके उस सिंहासन के दो हत्थे हैं, एक काला है, दूसरा सफेद। खादु के पत्थर काले और मकराने के सफेद हैं। संकेत इसी तथ्य की ओर है। सिंहासन के नीचे ख़ज़ाना मिलना चाहिये। और खोदने पर सिंहासन के नीचे खजाना मिल गया।

बुढ़िया की तरह घर में गुमी सुई, सड़क के खम्भे के पास ढूंढने से नहीं मिलेगी। संत ने कहा था– 'प्रकाश में मिलता है', पर जो जहाँ गुमा है वहाँ प्रकाश की अपेक्षा है, अन्यत्र नहीं। हमारी समझ की यही कमी है– जहाँ प्रकाश है, वहाँ वस्तु ढूंढने लगते हैं। वह खोई है उस जगह प्रकाश कर, उसे नहीं ढूँढते। शब्दों के कलेवर को ना पकड़ें, अर्थ को पकड़ें। आत्मरमणता बननी चाहिए। प्रभु ने कहा– स्वाध्याय से ज्ञानवरणीय कर्मक्षय होते हैं। तात्पर्य है कि यदि कर्म क्षय हुए हैं तो हमारे आत्म प्रदेशों से ज्ञान का प्रस्फुटन होगा। मैं एक बात और कहूँगा। संभव है, आप चौंक जायेंगे– 'शास्त्रों में सत्य नहीं है।' आपको विश्वास नहीं होगा, पर मैं गलत भी नहीं कह रहा हूँ। नन्दी सूत्र में कहा है– कि शास्त्र

सम्यक्दृष्टि पढ़ता है तो सम्यक् परिणमन करता है। और मिथ्यादृष्टि विपरीत परिणमन करता है। यदि शास्त्र एकान्ततः सत्य है तो परिणमन सत्यरूप में (सम्यक्) ही होना चाहिए। शास्त्र सत्य तभी होगा जब हम सत्यरूप में परिणमन करेंगे अन्यथा वह किस काम का ? अपने पुत्र के लिए आप कई कन्याओं को देखने जाते हैं पर जिस कन्या को चुनकर आप पुत्र का विवाह समाज की साक्षी में कर देते हैं वही आपकी पुत्रवधू बनती है, अन्य कन्याएँ नहीं। हम चाहे एक शब्द या एक पद पढ़ें पर उसे अपना बनाने की कोशिश करें, स्वाध्याय की प्रवृत्ति हमारा लक्ष्य बने। अपने क्षयोपशम के अनुसार पुरुषार्थ का संयोजन करें तभी आनंद की उपलब्धि हो सकती है। आगम वाणी के इन सूत्रों को पढ़ते हुए स्व के साथ संयोग बनेगा तो स्वाध्याय का आनंद पायेंगे।







20. स्वाध्याय और आत्म-जागरण

सुमति चरणकज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार सुज्ञानी।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी॥

प्रार्थना की इन पंक्तियों में भगवान् सुमतिनाथ के चरणों में आत्मा के समर्पण की बात कही गई है। विचारणीय यह है कि यह समर्पण कैसा हो, इस अर्पणा– समर्पणा का स्वरूप कैसा हो? अभी हमारी दृष्टि शरीर पर, मन पर और वचन पर लगी है। पर मन, वचन और काया आत्मा नहीं हैं। आत्मा इनसे भिन्न है। ये तीनों योग तो पुद्गलों के पिण्डभूत हैं। ये सभी आगंतुक हैं, अतिथि हैं। आगंतुक अथवा अतिथि के प्रति हमारा लगाव कैसा होता है, यह हम सब जानते हैं। जब व्यक्ति भ्रमणार्थ अथवा तीर्थाटन हेतु जाता है तब उन स्थानों के प्रति उसका लगाव वैसा नहीं होता, जैसा अपने घर के प्रति होता है। विवाह में बरातियों को जब धर्मशाला में रुकना होता है तब उनकी मानसिकता कैसी होती है, इसका अनुमान तब होता है जब कुछ अन्तराल के पश्चात् संत उस स्थान पर पहुँचते हैं। अपने आप को आगंतुक मानकर व्यक्ति जहाँ-तहाँ गंदगी पसार देता है। अपने घर जैसा लगाव उस स्थान के प्रति उसका नहीं होता। अपने घर की एक ईंट खिसकने पर जो चिन्ता या दुःख आपको होता, वैसा क्या किसी अन्य व्यक्ति के घर की ईंट खिसकने पर होता है? ध्यान रहे, जिसे आप अपना घर मान रहे हैं वो घर भी आपका नहीं है। इन्द्र ने जब नमि राजर्षि से कहा– राजन् आप पहले अच्छे मकान बना लीजिए फिर दीक्षा ग्रहण करना। नमि राजर्षि ने कह दिया कि जिसे बीच राह में पड़ाव करना है, वही मकान बनायेगा। यह जग तो 'रैन बसेरा' है। पर आप अपने एवं अपनी संतति की अपेक्षाओं से सभी प्रकार के परिग्रह एकत्र करते हैं। कारण यह है कि आपने इनके साथ मोह का संबंध स्थापित कर लिया है। अनेक विगत काल की अच्छी-

अच्छी बातें कहते हैं परन्तु यदि हमारा लक्ष्य मात्र सुनना ही हो तो उन बातों से क्या कोई फायदा भी है? क्या कभी इस पर भी विचार किया है? प्रभु ने फरमाया है– 'सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं' अर्थात् कल्याण और पाप– ये सुनकर ही जाने जा सकते हैं। पर सुनने के बाद– जं सेयं तं समायरे' अर्थात् जो श्रेय है उसका आचरण करें। सुनने के पश्चात् आचरण करने का ही महत्त्व है। पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा-बंध आदि का स्वरूप आगम में विवेचित है। तो क्या वह सारा ग्रहण कर लिया जाय? समाधान होगा– 'विवेक प्रज्ञा' को जाग्रत करें। प्रभु ने भी कहा है–

'पण्णा समिक्खए धम्मं।'

मनोविज्ञान भी 'रीजनिंग माइण्ड' की बात कहता है। यदि मस्तिष्क सक्रिय नहीं, प्रज्ञा को समीक्षण में न लगाया गया तो अन्तःप्रवेश नहीं होगा। स्वाध्याय शिविर आखिर क्यों आयोजित किये जाते हैं? स्वाध्याय क्या है? स्वाध्याय अपने को देखना है। हम बाह्य आकृतियों का निरीक्षण तो करते रहते हैं परन्तु कभी हमने सोचा क्या कि इन आकृतियों में सारा विश्व समाया हुआ है। वैदिक ग्रंथ में भी कहा गया है कि अणु में विभु और विभु में अणु का अस्तित्व है। बात कुछ गहन है। परन्तु इसे समझना कठिन नहीं है। हम जानते हैं कि वट के नन्हे से बीज में विशाल वृक्ष का अस्तित्व समाया हुआ होता है। इसी तरह कैवल्य की यह परम ज्योति आत्मा में ही समाहित होती है। सीमित मनुष्य-तन में भी वह विराट अवस्थित रहता है। हम जो-कुछ देखते हैं, उसका ज्ञाता कौन है? आत्मा। जिसको देखा या जाना जाता है, वह क्या है? ज्ञेय अर्थात् पदार्थ।

इस स्थिति पर किंचित विस्तार से विचार करें। देखने की इस प्रक्रिया में दो अवस्थाएँ घटित होती हैं– 1. आब्जेक्टिव अर्थात् पदार्थगत, 2. सब्जेक्टिव अर्थात् आत्मगत। पदार्थगत विषय की परिभाषा दी जा सकती है या उसका विश्लेषण किया जा सकता

है जबकि आत्मगत विषय के साथ ऐसा नहीं हो सकता। उसे तो जाना जाता है। इस प्रकार हमारे सामने दो बाते आती हैं– 1. धर्म और 2. विज्ञान। प्रश्न होता है कि ये दोनों परस्पर पूरक हैं या भिन्न-भिन्न। समीक्षण प्रज्ञा से चिन्तन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि दोनों का अलग-अलग अस्तित्व है। विज्ञान का विषय पदार्थगत है– जैसे पुद्गल का अध्ययन। वस्तुओं का निर्माण कैसे होता है, तत्त्वों को भिन्नता इस निर्माण को किस प्रकार प्रभावित करती है, चाँद-सितारे कितने हैं जैसे विषय वर्तमान विज्ञान का विषय हैं। यद्यपि शास्त्र में 'णाणे– विण्णाणे' शब्द प्रयुक्त हुए हैं पर वहाँ विज्ञान शब्द विशिष्ट ज्ञान का बोधक है। सामान्य रूप से पढ़ना तो ज्ञान है। उस ज्ञान को विशिष्ट गुणों से युक्त कर बनाना अथवा विशेष धर्म की उपलब्धि विज्ञान है। पर वर्तमान समय में/का कार्य विज्ञान पदार्थों की मीमांसा मान लिया गया है और धर्म का विषय क्षेत्र आत्मा से संबंधित है। विज्ञान ने यदि आत्मा की खोज की भी है तो अलग-अलग ढंग से।

एक सत्य घटना है। ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक आइंस्टीन मृत्यु शय्या पर पड़े थे पर आँखों में जिज्ञासा के भाव तैर रहे थे। निकट खड़े मित्रों व शिष्यों को आश्चर्य हुआ– इतनी खोजें इन्होंने कर लीं पर अभी भी आँखों में प्रश्न है? पूछ लिया– 'क्या अभी भी आपकी कोई जिज्ञासा है, खोज शेष है?' आइंस्टीन ने कहा– 'हां'। शिष्यों ने पूछा– वह क्या है? आइंस्टीन ने उत्तर दिया– यही कि यदि मैं पुनः मनुष्य बनूं तो संत बनूं क्योंकि अब तक जितना खोजा है उसको खोजने वाले को खोजने की जिज्ञासा शेष है। बात बहुत छोटी दीखती है, परन्तु है बहुत गहरी। हमारे दुःख का कारण यही है कि हमने खोजने वाले को नहीं खोजा। संभव है, कइयों ने खोजा भी हो। प्रभु ने इस खोज को नाम दिया है– 'स्वाध्याय' अर्थात् स्व का अध्ययन। इस प्रकार बाहर की नहीं, अपने भीतर की पुस्तक का पठन ही स्वाध्याय है। अतः हम सभी अपनी आत्मा की पुस्तक खोलें। हम सब सुनते तो हैं, पर सुनने वाले को याद

रखकर सुनें तो सुनना सार्थक हो जाये। कुभकर्ण की भांति यदि निद्राधीन होकर पड़े रहेंगे तो हमें जगाने हेतु कई योद्धा हमारे शरीर को आटे की तरह गूंध डालेंगे तब कभी तो नींद खुल जायेगी और कभी हम जंभुआई लेकर पुनः नींद के आगोश में समा जायेंगे। यह स्थिति बहुत दुःखद होगी अतः हम जाग्रत बनें।

एक तोता पहुँचा और वृक्ष पर रह रहे उल्लू से कहने लगा– 'फूल- पत्तियों से सुहाना यह वृक्ष कितना अच्छा दिखाई दे रहा है।' उल्लू ने उपेक्षा भाव दिखाते हुए कहा– भाई तूं क्या बोल रहा है, मुझे तो सिवा अंधकार के कुछ नहीं दिख रहा है। इस पर तोते ने कहा– भाई उल्लू, यह सूर्य और उसका प्रकाश कितना मन भावन है। उल्लू ने फिर आश्चर्यपूर्वक कहा– यह सूर्य कौन-सी चिड़ियाँ है और प्रकाश क्या होता है, मैं तो कुछ भी नहीं जानता। विवाद ठन गया। वे निर्णय के लिए पहुँचे दूसरे वृक्ष पर, जहाँ बहुत से उल्लू विद्यमान थे। आगंतुक उल्लू ने प्रश्न किया– मित्रो, क्या तुमने सूर्य और प्रकाश को देखा है ? सभी उल्लुओं ने कहा– हमने तो नहीं देखा। तब उन्होंने तोते को अपमानित कर भगा दिया– 'ना कोई सूर्य है, ना ही प्रकाश, हमें व्यर्थ में ही परेशान करते हो।' तात्पर्य यह है कि जो स्वयं जाग्रत नहीं हैं उनसे ज्ञान और सद्बुद्धि की अपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रभु महावीर ने कहा– स्वाध्याय करो। आपने भी दशवैकालिक सूत्र में पढ़ लिया 'कोहो पीइं पणासेइ', 'माणो विणय नासणो'। इस पढ़ने मात्र से लाभ नहीं होगा। अपने भीतर पढ़िये, समझने की कोशिश कीजिये कि आपके अंतर में कौन से भाव और विचार विद्यमान हैं ? मनुष्य की अपनी स्वयं की पहिचान बहुत कठिन है। कहा जाता है कि एक मनुष्य के चार चरित्र होते हैं– प्रथम वह, जो वह समझता है कि उसका है; दूसरा वह, जैसा वह अपने कार्यों से प्रदर्शित करता है; तीसरा वह, जो अन्य लोग उसका समझते हैं, और चौथा वह, जो वास्तव में उसका होता है। जब हमारे लिये दूसरे के सही चरित्र को पढ़ पाना ही कठिन है, जो व्यक्त होता है तब अपने आप को

समझ पाना कितना कठिन होगा, जो हम में प्रच्छन्न रहता है। तथ्य यह है अथवां होता ऐसा है कि हमारे भाव या व्यवहार तनिक-सी उत्तेजना पर ही बदल जाते हैं। क्रोध आया और सद्‌भाव का नाश हो गया, अनबन हुई और संबंध विच्छेद की स्थिति बन गई। यह बाहर देखना है या भीतर? यह क्या प्रक्रिया है? स्वाध्याय कीजिये– क्रोध का स्वाध्याय, मान का स्वाध्याय। आगम में कहा है– 'जे कोहदंसी, से माणदंसी, ज़े माणदंसी से मायादंसी... । देखने की शृंखला जुड़ी हुई है। यदि वस्तुतः क्रोध को देखना घटित हो जाय, मान को देखना घटित हो जाय, माया को देखना घटित हो जाय तो उस समय कोई भी कहे, चाहे भगवान् महावीर भी कहे कि क्रोध करो, मान करो, माया करो, पर वैसा नहीं हो पायेगा क्योंकि जब व्यक्ति आत्मा के अध्ययन में लगा होता है तब क्रोध, मान, माया, आदि के मनोविकारो का दमन हो चुका होता है। ऐसी अवस्था होगी जाग्रत अवस्था। शराब की बोतल भी उसे दे दी जायगी तो वह नहीं पी पायेगा। यह होता है स्वाध्याय का परिणाम। अतः जो कुछ करना है, आत्मा की उपस्थिति में करो। उस से छिपा कर कुछ मत करो। ऐसा होने पर आप गलत काम कर नहीं पायेंगे।

किसी बालक की आदत बिगड़ रही है तो उसे से आप कहें कि जो कुछ करना है, मेरे सामने करो, मैं मना नहीं करूँगा पर छिपा कर मत करो। आप देखेंगे कि वह गलत काम नहीं कर पायेगा। जिनदास श्रावक के जीवन की घटना है। एक बार एक व्यक्ति ने उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने कहा कि जब तक मैं किसी की आन्तरिक स्थिति का आवलोकन नहीं कर लूँ तब तक मैं उसके यहाँ पर भोजन नहीं करता हूँ। इस पर मेजबान ने कहा कि अपने कपड़ों के नीचे तो सभी नंगे होते हैं। तब जिनदास ने कहा– फिर तो मैं आपके यहाँ पर भोजन कर ही नहीं सकता। मेजबान ने अपना तर्क दिया कि आपने पूछा है, इसलिए बताया है अतः अब आपको मेरे घर भोजन तो करना ही पड़ेगा। जिनदास

ने कहा– ठीक है, पर पहले आप यह बताएँ कि आप करते क्या हैं? मेजबान ने कहा– मैं दिन में सेठ हूँ और रात में चोर हूँ। मेरा दिन का रूप अलग है और रात का रूप अलग है। रात में मैं जो चोरी करके लाता हूँ, उसे दिन में बेचता हूँ। जिनदास श्रावक ने कहा– तब मैं आपका भोजन कर ही नहीं सकता। मेजबान ने आग्रह किया– आपने मेरे बारे में सारी स्थिति जान ही ली है अतः भोजन तो करना ही पड़ेगा। जिनदास ने कहा– ठीक है, मैं इस एक शर्त पर भोजन कर सकता हूँ कि आप एक नियम लें। मेजबान ने कहा– मैं कुछ भी कर सकता हूँ, पर चोरी नहीं छोड़ सकता। जिनदास ने कहा– कोई बात नहीं, सत्य बोलने की प्रतिज्ञा ले लें। उस व्यक्ति ने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर ली और सत्य बोलने लगा। वह व्यक्ति पेशे से चोर तो था ही। एक बार चोरी करने निकला, रास्ते में उसे राजाजी मिल गये जो पोशाक बदलकर घूमने निकले हुए थे। उन्हें कुछ संदेह हुआ, पूछा– कौन है? चोर ने कहा 'मैं चोर हूँ। राजा ने पुनः पूछा– कहाँ जा रहे हो? उत्तर मिला– चोरी करने। फिर प्रश्न हुआ– चोरी कहाँ करोगे? उत्तर मिला– राजमहलों में। राजा विस्मित था। सोचा, कैसा सिरफिरा व्यक्ति है। पागल होगा, मूर्ख होगा। अन्यथा ऐसी बात नहीं कहता। और दोनों ने अपनी-अपनी राह ली। जब वह चोरी करके लौट रहा था तब पुनः राह में उसे राजा मिल गया। राजा ने उसी तरह फिर उससे पूछताछ की– भाई, कौन हो? उत्तर मिला– मैं चोर हूँ। कहाँ गया था ?– 'चोरी करने।' फिर पूछा गया– चोरी कहाँ की? उत्तर मिला– राजा के यहाँ। कि क्या चुराकर लाया है तो चोर ने बता दिया कि रत्नों के दो डिब्बे। राजा ने उसे फिर छोड़ दिया, सोचा कोई पागल व्यक्ति होगा। उधर कोषागार में खजान्ची ने देखा कि ताले टूटे हुए हैं। दो रत्नों के डिब्बे गायब हैं। उसके मन में कपट आया। उसने सोचा कि किसे मालूम है कि दो डिब्बे ही चोरी गए हैं, अतः उसने वैसे ही चार डिब्बे चुरा लिए। यह हुई चोरी में चोरी। प्रातःकाल खजांची द्वारा रात को छः डिब्बों

की चोरी हो जाने की जानकारी राजा को दी गई। राजा ने सोचा कि जो चोर रात को रास्ते में मिला था उसने तो दो डिब्बे चुराने की बात कही थी और खजांची छः डिब्बे बता रहा है। जरूर कुछ गड़बड़ है। चोर की खोज करायी गयी। उसे पकड़ कर लाया गया और उससे सारी जानकारी प्राप्त की गयी। वास्तविकता राजा के सम्मुख स्पष्ट हो गई। सत्यनिष्ठा के कारण उस चोर को तो खजांची पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जबकि खजांची दंडित हुआ। कहने का तात्पर्य यह कि यदि एक नियम का ही पूरी निष्ठा के साथ पालन कर लिया जाये तो अन्य नियमों की पालना की स्थिति उसी प्रकार बन जाती है जिस प्रकार एक कड़ी उठाने से पूरी जंजीर उठ जाती है।

कर्म करने से हम बच नहीं सकते इसलिये ध्यान रखें कि जो कुछ भी हम करें, पूरी निष्ठा से करें और अपनी आत्मा की साक्षी में करें। हम पायेंगे कि हमारा जीवन ही संवर जायेगा, चारित्रिक दोषादि स्वतः ही दूर होने लगेंगे और सद्गुणों का विकास प्रारंभ हो जायेगा। यह होगा स्वध्याय का परिणाम– आत्मा की जागृति में किये गये कार्यों का परिणाम। भगवान् ने कहा है कि स्वाध्याय से निर्जरा होती है, ज्ञानावरणीय कर्म क्षय होते हैं। कर्म हटेंगे तो स्वयमेव ज्ञान का प्रकाश उद्भूत होगा और हम अपने भीतर की अवस्थाओं को जान पायेंगे। स्वाध्याय माध्यम है। सिर्फ नदी के तट पर बैठने से तृषा शांत नहीं होगी। एक व्यक्ति के सामने थाली परोसी हुयी है। विभिन्न प्रकार की भोज्य सामग्री परोसी जा रही है परन्तु जो केवल निहार रहा है, क्या उसका पेट भर जायगा? नहीं। इसी तरह यदि पढ़ा लेकिन उस पर चिंतन नहीं किया, अपने पर घटित नहीं किया तो हम आत्मा का प्रकाश उपलब्ध नहीं कर पायेंगे। इसके लिए प्रभु ने स्वाध्याय का माध्यम बताया है और जिस क्षण यह हमारे जीवन में सम्मिलित हो जायेगा, उसी क्षण से हम प्रकाश से आप्लावित होने लग जाएंगे। भगवान् महावीर घूम-फिर कर जिस एक ही बात पर जोर दे रहे थे वह यही बात थी।

उठ जाग रे चेतन, निंदिया उड़ाले मोह राग की।
कौन कहाँ से आया है तू, जाना कौन मुकाम, ...।।
किन संबंधों में उलझा है, सोच जरा नादान रे।। उठ..।।

भगवान् महावीर ने चाहे किसी भी संदर्भ में किसी विषय को छूआ हो, उनका एक ही ध्येय चेतना को जगाने का रहा था। प्रभु का यह कहना था कि चेतन पर चोट पड़े, चेतना के साथ संबंध जुड़े, तभी उस विराट विश्व से सम्पर्क जुड़ेगा जो हमारे भीतर है और तभी यह स्वाध्याय फलित हो पाएगा।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि यदि स्वाध्याय शिविरों में सेवाएँ देने के लिए स्वाध्यायी बंधु पहुँचते हैं तो उनके मन में यह नहीं आना चाहिये कि उन्होंने कहीं जाकर अपनी सेवाएँ दी हैं, अथवा बाहर जाकर किसी पर उपकार किया है। सेवा का बखान सेवा को उसी प्रकार निरर्थक कर देता है जिस प्रकार दान देकर किया गया उसका बखान। ऐसा करना अथवा ऐसा सोचना तो एक और ग्रंथि पाल लेना है। ऐसी ग्रंथी नहीं पालें बल्कि स्वाध्याय के दर्पण में देखो, कोई भी विकार छुप नहीं पायेगा। अपनी यथार्थ स्थिति का परिज्ञान हो जायेगा। स्वाध्याय सेवा देनेवाला अन्य का नहीं स्वयं का उपकार करता है।

आचारांग सूत्र में कहा है- 'जे एगं जाणई से सव्वं जाणइ' जो एक को जानता है वह सब को जानता है। आत्मा का अपना स्वाध्याय करके आप देख लें। यह जागरण है और यदि आप जाग रहे हैं और सतर्क हैं, वार्तालाप कर रहे हैं और चोर आ जाए तो क्या वह चोरी कर पाएगा? नहीं, कभी नहीं। वैसे ही यदि हम जाग्रत है और आत्म चिंतन कर रहे हैं तो क्या नये चोर आ पाएंगे? नहीं, जो पुराने चोर है, वे भी भाग जाएँगे। वे चोर कौन से हैं– क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि। इन्हीं को स्वाध्याय करके जीवन से हटाना है। शास्त्रकारों ने कहा है– जो अज्ञानी व्यक्ति है वह करोड़ वर्षों में भी जितने कर्म क्षय नहीं कर सकता

है उतने कर्मों की निर्जरा– सम्यक् दृष्टि वाला कुछ ही समय में कर लेता है। यों समझिये कि अन्तर्मुहूर्त में कर लेता है। यह कोई जादुई छड़ी का खेल नहीं है? यह है स्वाध्याय की महत्ता, आत्म जागरण की उपलब्धि। चोर भी जब जान लेते हैं कि मालिक जाग्रत है तो भाग जाते हैं। हम भी स्वाध्याय के इसी स्वरूप का साक्षात्कार कर चलें। निर्विकार आत्म दर्पण में देखें और हर अवस्था में संतोष धारण किये रहें। आत्मा के साथ अन्तरसंबंध रखें तभी संतोष भी हो पायेगा और तभी शांति भी प्राप्त होगी।



21. आत्मसमर्पण की विधि

प्रभु चरणों में आत्मा के अर्पण की बात सभी करते हैं। परन्तु यह अर्पण कैसे किया जाये, इसे लगभग अस्पष्ट ही रहने दिया जाता है अथवा अनेक मार्ग या तरीके बता दिये जाते हैं लेकिन इससे तो अर्पण की बात सरल नहीं हो जाती। मुख्य बात होती है विधि की, विधि को जानने की। यह विधि ज्ञात न हो तो गहन से गहन प्रयास भी निष्फल हो सकते हैं। मालपुआ बनाना है और शक्कर, घी, आटा, पानी आदि उपलब्ध हैं, आग भी जल रही है परन्तु इनका उपयोग कैसे किया जाय– यदि यह जानकारी हो तभी इनका उपयोग कर मालपुआ बनाया जा सकता है अन्यथा नहीं। सारी समाग्री यदि विधिपूर्वक नहीं मिलाई गई तो और कुछ बन भी पायेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता परन्तु मालपुआ तो नहीं बन सकेगा। हमें भी प्रभु के चरणों में आत्म-अर्पण की विधि को जानना होगा। यदि आत्मा की आतुरता होगी तो उसे विधिसम्मत मार्ग स्वीकार करना होगा।

इस विधिसम्मत मार्ग अथवा अर्पणा की विधि के दो मार्ग बताये गये हैं। जैसा कि कहा गया है– 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः।' आचार्य उमास्वाति ने भी कहा है– 'सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः'। साधना और आराधना के मार्ग हम जानते ही हैं। ये बातें पढ़ते आए हैं। आचार्य उमास्वाति के अनुसार दर्शन और ज्ञान के बाद तीसरा नम्बर आता है चारित्र का। चारित्र अर्थात् पुरुषार्थ, क्रियाशीलता। अपनी वीर्यशक्ति से जो क्रिया सहज सम्पन्न की जाय, वह वस्तुतः चारित्र है। यहाँ क्रिया का तात्पर्य सत्कार्यों से हैं। आत्मा जिन सत्कर्मों को करती है उनके आधार पर चरित्र का प्रकार निर्धारित किया जाता है। ऐसे चारित्र की आराधना के माध्यम से आत्मा की अर्पणा कैसे की जाय? जब इस पर चिंतन करते हैं तो दो महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं अथवा विधियों की बात की

जा सकती है। ये हैं– 1. साधना और 2. उपासना। सामान्यतः साधना और आराधना को एक ही मान लिया जाता है क्योंकि यह समझा जाता है कि जो साधना है, वही उपासना है और जो उपासना है, वही साधना है। परन्तु ये दोनों भिन्न है। इन दोनों के अन्तर को समझना है। आप साधना करते हैं या उपासना? स्पष्ट उत्तर देना कठिन है। साधना के बिना उपासना और उपासना के बिना साधना सध नहीं पाएगी– अस्तु इन दोनों के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

साधना का संबंध आत्मा के साथ-साथ समाज व परिवार से भी होता है जबकि उपासना का संबंध मूलतः आत्मा व परमात्मा से होता है। एक किसान बीज बोने से पूर्व खेत की भूमि को जोत कर समतल बनाता है। चारों ओर बाड़ से खेत को सुरक्षित करके ही वह बीज बोता है। बोने के पश्चात् उसे बीज की सुरक्षा व विकास हेतु समय देना पड़ता है। बोने की क्रिया अल्पकालिक ही होती है पर सुरक्षा करते हुए फसल प्राप्ति के लिए लम्बे समय की अपेक्षा होती है। यही दायित्व साधना का है। मात्र बीज-वपन करना– यह तो उपासना है पर उससे पूर्व व पश्चात, साधना की आवश्यकता होती है। चारों ओर की बाड़ की तरह साधना हेतु इर्द-गिर्द के वातावरण की पवितत्रा एवं उपयुक्तता महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ऐसे ही वातावरण में उपासना का बीज पनपता है।

प्रभु ने श्रावक के लिए 12 व्रतों का विधान किया है। इनमें पाँच अणुव्रत साधना के व 4 शिक्षाव्रत उपासना के प्रतीक हैं। हम सामायिक की उपासना करना चाहते हैं किन्तु 5 अणुव्रतों की साधना को जाने बिना उपासना पल्लवित नहीं होगी, क्योंकि उस स्थिति में सामायिक में मन नहीं लगेगा। यदि खेत की बाड़ नहीं लगाई गई तो असुरक्षा का खतरा बना रहेगा। साधना के बिना उपासना सफल नहीं होगी। उपासना परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करने के लिए है। भगवान् ने ठाणांग सूत्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्र धर्म आदि धर्मों का कथन किया है। ये भले ही लौकिक धर्म हों

पर इन व्यवस्थाओं के बिना श्रुत व चारित्र-धर्म की स्थिति संकट में पड़ सकती है। व्यवस्था की सुदृढ़ भूमिका अनिवार्य है। एक व्यक्ति परिवार के बीच सामायिक की उपासना करता है। पारिवारिक सदस्यों के वार्तालाप, क्लेश, कार्य-कलाप जैसी स्थितियाँ एकाग्रता को भंग कर सकती हैं। एक व्यक्ति ने सेठजी की पुत्रवधू से पूछ लिया– 'सेठजी कहाँ हैं।' सेठजी तो घर पर सामायिक में उपासना कर रहे थे पर बहू ने कह दिया– बाजार गए हैं। पुनः पूछा तो कहा– मोची की दुकान पर गए हैं। सेठजी के घर में ही उपस्थित होने के बावजूद पुत्रवधू ने हर बार पूछे जाने पर सेठजी के किसी भिन्न स्थान में होने की बात कही। उसने कुछ गलत भी नहीं कहा क्योंकि सेठजी का शरीर अवश्य घर में साधना की मुद्रा में था परन्तु उनका मस्तिष्क अथवा चिन्तन विविध स्थानों से संबंधित कार्यों में लगा हुआ था और इस प्रकार मानसिक रूप से वे न घर में उपस्थित थे, न भावतः सामायिक में। हम जानते हैं कि मानसिक अथवा भाव की उपस्थिति ही सच्चे अर्थ में उपस्थिति होती है, अन्य उपस्थितियाँ तो व्यवसाय हैं।

आप यह भी न समझ लें कि भाव नहीं जुड़ता है अतः तो द्रव्य की कोई महत्ता है ही नहीं। प्रसन्नचन्द्र राजऋषि साधना कर रहे थे, भाव से विचलित हुए। ज्यों ही सिर पर हाथ गया, पुनः वेश का ध्यान आया– अरे मैं कहाँ विचलित हो गया था! और वे पुनः साधना में लौट आए। साधु वेश उनको भावों में स्थिर रखने के लिए था। इस प्रकार द्रव्य स्थिति भी कई बार भाव स्थिरता में योग देती है इसलिये द्रव्य का भी महत्व है। भाव सामायिक को स्थिर रखने के लिए द्रव्य सामायिक भी आवश्यक है। मनोविज्ञान भी मानता है कि पारिवारिक संस्कार व्यक्ति में फलित होते हैं। माहौल के अनुरूप ही साधना में रंग आता है। परिवार के माहौल से विरले व्यक्ति ही अप्रभावित रह पाते हैं। सर्पिणी प्रसव के समय कुंडली बनाकर बच्चों को जन्म देती है। कोई विरला ही उस कुंडली से निकल कर बाहर जा पाता है। वैसे ही

विरला व्यक्ति ही घर में बैठकर शान्त चित्त से सामायिक कर सकता है। घर में बैठकर भी सामायिक रूप उपासना की जा सकती है, बशर्ते कि पहले परिवार को सुधारें। पहले व्रत के अतिचार में कहा है-- 'भत्तपाण विच्छेए।' यदि अपने आश्रित का ध्यान न रखा गया तो घर में विवाद होगा। आत्मा की समाधि भंग होगी। फिर आराधना फलीभूत कैसे होगी? यदि भूखे से कहा जाय कि सामायिक करले, तो भूखा व्यक्ति कहेगा कि भूख लग रही है। पहले भोजन करा दो, फिर सामायिक कर लूँगा। परन्तु यदि उससे कहा जाय कि पहले सामायिक कर ले फिर भोजन करा देंगे तो इस आश्वासन में आकर यदि वह सामायिक कर भी लेगा तो मन से नहीं कर पायेगा। उसका मन समय व्यतीत होने की ओर लगा रहेगा– कब अड़तालीस मिनट पूरे हों, कब सामायिक पूरी हो और कब खाना मिले!

जिस व्यक्ति पर ऋण का बोझ हो, उससे यदि कहा जाय कि सामायिक कर लो, तो सामायिक में वह सोचता रहेगा– अमुक सेठ का इतना ब्याज बन गया है, अमुक ने कोर्ट में मुकद्दमा कर दिया है, अमुक से यह लेना है, अमुक को इतना देना है आदि। तब सोचें कि वह क्या वास्तव में सामायिक कर रहा है या मात्र दिखावा कर रहा है?

एक गरीब व्यक्ति कर्जदार था। कोई परिजन या संतान नहीं थी, न ही कोई रिश्ते-नाते थे। अचानक उसका स्वर्गवास हो गया। उसकी मृत्यु की बात कर्जदाताओं ने भी सुनी। वे भी वहाँ पहुँचे कि कुछ दबा हो तो कब्जा कर लें। वे लोग उसके घर संवेदना प्रकट करने नहीं पहुँचे थे, वे तो वहाँ अपनी बाकियात वसूलने के अवसर पता लगाने के उद्देश्य से पहुँचे थे। इधर वहाँ पुलिस भी पहुँची। खोज-बीन की गयी। वहाँ एक वसीयत के अलावा और कुछ भी नहीं मिला। साहूकारों ने सोचा, संभव है इस वसीयत के आधार पर ही कुछ वसूली हो जाये। सभी की जिज्ञासा जगी कि वसीयतनामे में क्या लिखा है? पढ़ा गया—उसमें लिखा था

'मेरे जो चार मुख्य कर्जदाता हैं, वे ही मेरी लाश को कंधा दें क्योंकि उन्होंने ही जब मुझे यहाँ तक पहुँचा दिया है तो थोड़ा और आगे भी पहुँचा दें।' हम जरा स्वयं को टटोलें, प्रेरणा लें। क्या ऐसी स्थिति में साधना उपासना हो सकती है। आवश्यकता है अपने इर्द-गिर्द साधना का वातावरण बनायें। हम अपनी आत्मा को साक्षी रखकर साधना करेंगे तो निश्चित ही वह फलदायी हो पायेगी। यदि व्यक्ति दृढ़ रहता है तो वह किसी भी वातारवण में साधना कर सकता है परन्तु ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं।

आचार्यश्री नानेश ने हमसे एक बहुत मार्मिक अपील की है, पर हमने उसके महत्त्व को जानने की कभी कोशिश नहीं की? उन्होंने हमें सूत्र दिया है कि साधना/उपासना करना चाहते हैं तो 'समता समाज' का धरातल उसके लिए आवश्यक है। भारतीय संविधान में भी समतामूलक सिद्धांत दिये हुए हैं। यह बात अलग है कि उनका सही प्रयोग नहीं किया जा रहा है। समाज की रचना उस रूप में नहीं की जा रही है और परिणाम तनाव, हत्याओं, आतंक, शोषण, अपराध आदि के रूप में सामने आ रहा है। समाज में व्याप्त तनावपूर्ण वातावरण का बोझ आप पर मंडरता रहेगा और आप अशान्त एवं उद्वेलित रहेंगे। ऐसी स्थिति में साधना-उपासना में आपका मन स्थिर नहीं हो पायेगा। पुर्णिया श्रावक के सामायिक की महिमा हम गाते हैं, पर उसका मर्म क्या है– यह जानने का प्रयास नहीं करते। उसने उपासना से पूर्व साधना के घेरे को मजबूत किया था क्योंकि उसके अभाव में उपासना लड़खड़ा जाती है। वह चौबीस घण्टे साधना में रत रहता और एक घंटा उपासना में। इसलिए बावन डूंगरी धन भी उस सामायिक की दलाली मात्र के लिए पर्याप्त नहीं बताया गया। उसने उपासना से पूर्व साधना के घेरे को कितना मजबूत किया था, इस पर हम ध्यान दें। उसकी पत्नी पड़ोसी से बिना पूछे उसके घर का कण्डा उठा लेती है। परिणामस्वरूप पूर्णिया का उपासना में मन चंचल हो जाता है। कण्डे जैसी सामान्य वस्तु भी अनैतिक रूप से घर

में प्रविष्ट हो, यह उसकी साधना को स्वीकार्य नहीं था। सोचिए, कैसी थी उसकी साधना? उसी के बल पर उसकी उपासना–सामायिक महत्त्वपूर्ण बनी। इस प्रकार स्पष्ट है कि साधना की सुदृढ़ता के अभाव में उपासना लड़खड़ा जाती है।

आज भी समता समाज की रचना पर चिंतन चलता रहता है। समता समाज की रचना आचार्यदेव का सपना था। उनके इस अधूरे स्वप्न को हमें पूरा करना है। आचार्यदेव के उपदेशों को किताबों में सुरक्षित करके प्रकाशित कर लेने से ही हमारे कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती। हमें उस समता समाज की रचना के लिए आगे आना पड़ेगा और मात्र प्रचार की भावना से ऊपर उठकर समता समाज के जामे को अमली रूप देकर साधना के लिए वातावरण तैयार करना होगा। अन्यथा आचार्यदेव के प्रति हमारी निष्ठा मात्र जुबानी जमा-खर्च बन कर रह जायेगी। यदि वास्तव में आचार्यदेव के प्रति हमारी भक्ति सच्ची है तो हमें उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु उपयुक्त वातावरण भी बनाना पड़ेगा। यह भी साधना का रूप होगा। क्योंकि सच्ची साधना के लिये पहले आसपास के वातावरण को साफ करना होगा।

दूध या पानी को गरम करना है तो उसे आग पर रखना होगा। चूल्हा कहीं और हो और दूध-पानी अन्यत्र हो तो वह गर्म नहीं हो पायेगा। यही बात उपासना और साधना के संबंध में भी है। बीरबल की खिचड़ी वाली कथा इसका खुलासा कर सकती है।

अकबर बादशाह ने एक बार घोषणा करवायी कि इस भयंकर सर्दी में भी जो व्यक्ति शाही तालाब में रात्रि भर खड़ा रहेगा, उसे सौ अशर्फियाँ दी जायगी। एक गरीब ब्राह्मण था। उसने अशर्फियों के मोह से विचार किया कि वैसे तो कभी भी सौ मोहरें कमा नहीं पाऊँगा, यही एक अवसर है। उसने बादशाह से आज्ञा प्राप्त कर ली और तालाब के ठण्डे पानी में खड़े रहकर रात्रि व्यतीत कर दी। प्रातःकाल वह शाही दरबार में पहुँचा और पुरस्कार की

राशि दिये जाने की प्रार्थना की। बादशाह ने उससे पूछा कि रात भर तुम्हारे शाही तालाब में खड़े रहने का प्रमाण क्या है? ब्राह्मण ने कहा– 'जहांपनाह! राजमहल में दीपक जल रहा था और मैं उसे देखता रहा– जब तक वह जलता रहा, मैं जल में खड़ा रहा और जब वह बुझ गया तो मैं वहाँ से लौट आया।' बादशाह अकबर ने कहा– 'तब तुम्हें पुरस्कार नहीं दिया जा सकता क्योंकि तुम महल के दीपक की गर्मी लेकर वहाँ पर खड़े रहे थे।' बेचारा ब्राह्मण बहुत दुःखी हुआ। सोचने लगा कि मैं पुण्यहीन ही नहीं, भाग्यहीन भी हूँ। भाग्य और पुरुषार्थ की विडम्बना ही है कि रात भर तालाब में खड़ा रहा किन्तु परिणाम शून्य रहा, पुरुषार्थ से भी कोई लाभ नहीं मिला। बीरबल भी सभा में उपस्थित था। उसने देखा कि बादशाह ने तर्क और बुद्धि से अपनी सौ अशर्फियाँ बचा ली हैं। यह सरासर अन्याय था। पर बोले कौन? बीरबल ने एक योजना बनाई। वह दो-चार दिन राज-सभा में उपस्थित नहीं हुआ। बीरबल की अनुपस्थिति बादशाह अकबर को खलती थी। वैसे भी उसे बीरबल की सलाह की जरूरत पड़ती रहती थी। अतः बीरबल को बुलाने के लिए अनुचर भेजे गये। बीरबल ने अनुचरों के साथ कहला भेजा कि वह बीमार है, आ नहीं सकता। अनुचरों ने बादशाह से वैसा ही कह दिया। बादशाह ने कहा, बीमार है यह तो जान लिया पर वह क्या कर रहा था? उत्तर मिला– जहांपनाह, एक बांस को उसने जमीन में गाड़ रखा था और बांस के ऊपरी भाग में हण्डिया बांधकर नीचे अग्नि जला रखी थी। अकबर को आश्चर्य हुआ। अपने आश्चर्य को अन्तर में छिपाते, वह उठा और बोला– बीरबल बीमार है तो मिल आते हैं। बीरबल के घर पहुँच, उसे निरर्थक क्रिया में संलग्न देख, अकबर ने पूछा– बीरबल क्या कर रहे हो? बीरबल ने कहा कि जहांपनाह, खिचड़ी पका रहा हूँ। अकबर ने कहा– अरे, भला ऐसे क्या खिचड़ी पकायी जाती है? आग की गर्मी तो नीचे दूर है, वह खिचड़ी की हाँडी तक कैसे पहुँचेगी? और उसके बिना क्या खिचड़ी पकेगी? बीरबल कहने

लगा– हुजूर! क्यों नहीं पकेगी ? जब महल के दीपक की गर्मी से शाही तालाब में सर्द रात्रि काटी जा सकती है तो फिर मेरी खिचड़ी क्यों नहीं पक सकती है? अकबर को रहस्य समझ में आ गया। उसे अपनी भूल का एहसास हुआ और प्रायश्चित्त के स्वर में कहा– बीरबल, ब्राह्मण को दो सौ अशर्फियाँ दे दी जायेंगी। चलो, अब दरबार में चलते हैं।

बन्धुओ! खिचड़ी पकाने के लिए जिस प्रकार आग के संयोग की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार आत्म अर्पणा के लिए परमात्मा का सामीप्य आवश्यक होता है। यही स्वरूप उपासना का है। उप+आसना– उप=समीप, आसना=आसन (बैठना)। आसन नजदीक हो। किसके नजदीक हो? चाहे आत्मा के, चाहे परमात्मा के, पर नजदीक रहे या हम नजदीक बैठें– यही उपासना है।

हम आगमों से अथवा संत-महापुरुषों के प्रवचनों से आत्मा का परिचय प्राप्त करते हैं परन्तु आत्मा का सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। परिचय तो कइयों से किया जाता है परन्तु सम्बन्ध एक से ही होता है। प्रवचन से परमात्मा का परिचय मिल सकता है पर परिचय से सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध तो स्वयं को करना होता है तभी अपनत्व का आभास हो सकता है। जब दो परिवारों का सम्बन्ध जुड़ता है तब आपसी सम्बन्धियों को मारवाड़ में सगाजी कहते हैं। एक ही माँ की कुक्षि से जन्मे दो भाई सगे कहलाते हैं। वे सगे भाई होते हैं। उसी तरह जब दोनों परिवारों में सम्बन्ध हो जाता है तब वे पराए नहीं रहते हैं। उन्हें सगा बना लिया जाता है। दोनों परिवार एक-दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानने लगते हैं। इसी प्रकार यदि परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया जाय तो फिर दुःख नहीं आयेगा, दुःख को वह बांट लेगा। आवश्यकता है, परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापना की। परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया तो फिर हमारी आत्मा गुणों का समुद्र बन जाएगी क्योंकि 'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति' संसर्ग से दोषों की और गुणों की अभिवृद्धि होती है।

परमात्मा के संसर्ग से हमारे भीतर परमात्मा जैसी समाधि प्रकट हो जाएगी। उस समाधि के प्रकट होने पर चाहे कोई कितना ही दुःख पहुँचाये, हम दुःखी नहीं होंगे। यदि व्यक्ति सहनशील है तो वह परिस्थितियों पर स्वामित्व प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। विहार के दरम्यान संत एक फैक्ट्री में रुके। पास ही हथौड़ों का ढेर लगा था। पूछा गया, यह क्या है? वहाँ के एक कर्मचारी ने कहा, हमारे यहाँ लोहे को पिघला कर घन पर हथोड़े से कूटा जाता है। इस क्रिया में कुछ हथौड़े टूट जाते हैं, यह उन टूटे हुए हथौड़ों का ही ढेर है। पूछा गया– भाई, घन भी टूट जाती होगी। उत्तर मिला– नहीं, घन तो लम्बे समय तक बनी रहती है। संत ने चिन्तन किया– प्रहार करने वाला टूट जाता है और सहिष्णु टिका रहता है। हथौड़ा पर के हाथ की कठपुतली बन, उसके इशारे पर नाचता है। पिटाई करने वाला स्व के अस्तित्व को ही खतरे में डालता है। साधना और उपासना के क्षेत्र में भी ऐसी ही सावधानी की जरूरत है। हमें दूसरों के हाथ की कठपुतली नहीं बनना है। अन्यथा साधना टिक नहीं पाएगी। साधना की भूमिका को दृढ़ करने के लिए ही अणुव्रत हैं। जब साधना पवित्र बन जाएगी तब उपासना भी सम्यक् होगी। मेघकुमार के जीव ने हाथी के भव में अग्नि से बचाव के लिए 1000 योजन का मण्डल बनाया था और उसमें वे सुरक्षित रह पाये थे। यदि हमने भी व्रतों के रूप में मण्डल साफ करने का उपक्रम किया है तो हमारी आत्मा भी आघातों से बच सकेगी। सुना है, आजकल बैंकों में ऐसी दीवालें होती हैं जिन पर गोली, बारूद का भी असर नहीं होता। हम भी अपना सुरक्षा कवच ऐसा ही बनायें। फिर तरंगें नहीं उठेंगी। तालाब के उथले जल में तरंग उठती है, कुआँ गहरा होता है और चारों ओर से बंधा हुआ भी, उसमें तरंगें नहीं उठतीं। साधना की बाड़ में सुरक्षित उपासना के बीज पल्लवित हो सकेंगे और अमाप आनंद की उपलब्धि हो पाएगी।

साधना के वशीभूत क्षेत्र में क्लेश का प्रवेश नहीं होगा। बगिया

में उगे हुए एक बावना चन्दन के वृक्ष से स्पर्शित हवा का झोंका बगिया के अन्य पौधों को भी सुरभित कर देता है। परमात्मा की समीपता से हमारे भीतर भी गुणों का अभिवर्धन होगा। निश्चित होगा। गंगाजल को पवित्र माना गया है। कहते हैं, उसमें कीटाणु पैदा नहीं होते पर यदि वह गटर में मिल जाये तो वह भी दूषित हो जायेगा। संसर्ग का असर तो होगा ही। शराब की दुकान या वेश्या के मोहल्ले में सम्पर्क बना तो किसी दिन फिसलते देर नहीं लगेगी। टी. वी. की समीपता के कारण ही बच्चों के संस्कार बिगड़ रहे हैं। इसीलिए प्रभु ने हमें उपासना का जो दायरा बताया है और जहाँ हम आत्मा को अर्पित करना चाहते हैं, उसे शुद्ध रखें। जन्म के समय जो घूँटी पिलाई जाती है, उस पिलाने वाले की भावना के अनुसार बालक के संस्कार बनते हैं। गर्भस्थ शिशु के संस्कार माता को उत्पन्न दोहद से पहचाने जाते हैं। समीपता का असर इतना गहरा होता है कि जब माता शयन करती है तो गर्भस्थ शिशु का भी शयन के साथ शयन व जागरण के साथ जागरण होता है। अभिमन्यु माता के पेट में ही (गर्भावस्था में) चक्रव्यूह-भेदन का ज्ञान सीख गया था पर बात सुनते-सुनते माता को नींद आ गयी और वह आगे की बात सुन न सका था अतः आगे के ज्ञान– चक्रव्यूह से बाहर निकलने के ज्ञान; को वह प्राप्त नहीं कर सका था। युगद्रष्टा युगपुरुष जवाहराचार्य कहते थे– माता प्रथम गुरु है। बालक को जितना विश्वास माता का होता है, उतना पिता का भी नहीं होता। आचार्यश्री नानेश बाल्यावस्था में थे, रुग्ण हो गए। माता पताशा लगाकर फुलका खिलाती। एक दिन माँ काम से बाहर गई हुई थी। पिता बैठे भोजन कराने। बालक ने मना कर दिया– नहीं मैं तो माँ से ही खाऊँगा। पिताजी ने कहा कि मैं कोई जहर थोड़े ही दे रहा हूँ। बालक नाना ने कहा– भले ना हो, पर मैं तो माँ से ही खाऊँगा। कहते हैं, त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण से भी उनके गुरु ने वरदान माँगने का बहुत आग्रह किया था तो उन्होंने कहा– मैं आजीवन माँ के हाथ से ही भोजन करूँ। आज

की स्थिति क्या है– इससे सभी परिचित हैं। श्रीमतीजी भोजन करवाती हैं, भोजन के साथ चुगलियों के कुछ स्वादिष्ट व्यंजन भी परोसती हैं और परिणाम होता है परिवार में कलह और पृथक्करण। पृथक्करण नहीं, हमें तो तादात्म्य उत्पन्न करना है। परमात्मा का सान्निध्य तो क्या, हम यदि परमात्मा की मुद्रा ही बना लें, पद्मासन और सिद्धासन ही बना लें तो भी हमारे भीतर हिंसा के, आक्रमण के, विरोध के भाव नहीं जन्मेंगे। हमारा मन परमात्म-चरणों में लवलीन हो जाए तो वे सभी भौतिक और सांसारिक बंधन वैसे ही टूट जायेंगे जैसे भक्ति में तल्लीन मीरां के टूट गये थे, जब वह रैदास के घर पहुँच गई थी। लोगों ने टोका था कि वह तो चमार है, तुम कहाँ जा रही हो ? मीरां का उत्तर था– 'वह तो मेरे गुरु हैं।' उपासना के दायरे में हर बंधन हट जाता है और फिर परमात्मा के साथ तादात्म्य हो जाता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जो परमात्मा के गुण हैं वे ही आत्मा के गुण भी हैं। कहा ही जाता है– जो आत्मा है, वही परमात्मा है। सांसारिकता का बंधन अथवा माया का आकर्षण ही दोनों को अलग किये रहता है, वह बंधन हट जाये या टूट जाये, बीच का अवरोध हट जाय तो आत्मा का परमात्मा के साथ स्वतः ही तादात्म्य हो जाये। कबीर ने इसी सत्य की अनोखी अभिव्यक्ति कुंभ और जल के रूपक में की है–

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तथ कर्तों गियानी।

अतः प्रभु चरणों में अर्पण की केवल बात ही न करें, उस दिशा में प्रयास की विधि भी जान लें, और उसकी निष्ठापूर्वक पालना करें। ज्ञान, दर्शन और चरित्र इसमें सहयोगी हो सकते हैं परन्तु प्रयास तो हमें ही करने होंगे। हम ही आत्मा हैं, यह तथ्य यदि हमें याद रहेगा तो प्रयासों में कभी बाधा नहीं आयेगी।



22. समर्पण-भाव और जीवन-संस्कार

सुमति चरणकज आतम अर्पणा, दपर्ण जेम अविकार, सुज्ञानी।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी॥

सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में आत्मा का अर्पण क्यों करें? समर्पण से हमें क्या लाभ होता है? नीतिकारों ने भी कहा है– 'प्रयोजनेन बिना मंदोऽपि न प्रवर्तते'। यदि लाभ का ज्ञान न हो तो मंदबुद्धि भी उस कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता, प्रबुद्ध तो प्रवृत्ति करेगा ही कैसे? परमात्म चरणों में समर्पण से हमें लाभ होता है? उद्यान पहुँचने से हमें फूलों की सुगंध, स्वच्छ हवा प्राप्त होती है। वहाँ भ्रमण करने से शरीर को ऊर्जा प्राप्त होती है, जब बाह्य जगत में बगीचे के सम्पर्क से लाभ प्राप्ति देखी जाती है तो फिर परमात्मा तो पूर्ण शक्ति के साम्राज्य हैं। उनके प्रति समर्पण भाव से हमारे शक्ति केन्द्र क्यों न जाग्रत होंगे? अवश्य होंगे। यदि चिकित्सक चाहे कि शरीर की चीर-फाड़ करके इन केन्द्रों को देख लूँ तो उसे सफलता नहीं मिलती क्योंकि सूक्ष्म को स्थूल चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। यह औदारिक शरीर स्थूल पुद्‌गलों से निर्मित है और वे केन्द्र सूक्ष्म शरीर के साथ संयोजित हैं। शरीर के जिन स्थानों पर केन्द्र की बात कही गई है, वहाँ ध्यान केन्द्रित करने से शक्ति प्राप्त होती है। परमात्मा शक्ति के स्रोत हैं। जिस प्रकार विद्युत के संसर्ग से बैटरी को चार्ज किया जाता है, उसी प्रकार परमात्मा से तादात्म्य जोड़ने से हमारे जीवन की बैटरी भी चार्ज होती है। बिना तादात्म्य के अर्पणा हो नहीं पायेगी, परमात्म स्तुति से हमारे भीतर झंकार उत्पन्न होना चाहिए, जैसे बगीचे में भ्रमण करने पर एक सिहरन पैदा होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी उद्यान-भ्रमण के अनेक लाभ हैं। ऊर्जा-प्राप्ति के साथ ही प्राकृतिक शिक्षा में यह सहायक बनता है। उद्यान से मिलने वाली शिक्षा के विषय में युगद्रष्टा, ज्योतिर्धर जवाहराचार्य ने सुन्दर कल्पना की है—'उद्यान के ये फूल हमें त्याग का संदेश देते हैं।' मधुकरों

को मकरंद त्याग के रूप में लुटाते हैं किन्तु इतनी ही कल्पना नहीं बनी बल्कि आचार्यदेव चिन्तन की गहराई में उतर गये। भिन्न-भिन्न वर्णों के फूल खिले हुए हैं। सूर्य की ऊर्जा पाकर भी जिसने इसका त्याग कर दिया, वह श्वेतवर्णी पुष्प बन गया। जिसने क्रमशः कुछ कम त्याग किया, वे क्रमशः गुलाबी, पीले, लाल वर्ण में परिणत हो गए और जिसने त्यागा नहीं अपितु सम्पूर्ण ग्रहण कर लिया, वह कृष्ण (काले) वर्णी बन गया। काला रंग ऊष्मा का शोषक माना जाता है। विहार मार्ग में भी अनुभूति हुई, जब काली मिट्टी की भूमि पर चल रहे थे, वह कुछ अधिक तपी हुई मालूम पड़ी। साथ में विज्ञान को जानने वाले संत भी थे। कारण यही मालूम हुआ कि काला रंग ऊष्मा को शीघ्र व अधिक सोख लेता है और वह इसलिए अधिक उष्ण महसूस होता है। इन रंगों का संबंध लेश्या से भी जुड़ता है। जैनदर्शन में छह लेश्याओं का कथन आता है। जिसमें सिर्फ ग्रहण ही ग्रहण के भाव हैं वह कृष्ण लेश्या का प्रतीक है और त्याग की भावना ज्यों-त्यों प्रबल बनती है, लेश्याओं का भी परिमार्जन होता जाता है। एक ही उद्यान अलग-अलग व्यक्ति के लिए अलग-अलग प्रकार की प्रेरणाओं का केन्द्र बनता है। प्रभु के दरबार में पहुँचने वाला भोगी भोग-कामना की पूर्ति चाहता है, चोर अपने पेशे की सफलता का अनुरोध करता है तो एक संत की प्रार्थना आत्मगुणों के विकास की होती है।

एक बहुत बड़े राजा ने आह्वान किया– 'जो इच्छित है, माँग लो।' उनसे यदि 2/4 रूपये, मुट्ठी भर चने माँगने का विचार बना तो यह बुद्धिमत्ता नहीं है। कपिल ब्राह्मण से उसके सत्य वचन पर मुग्ध होकर सम्राट ने कहा– जो चाहिए माँग लो। ब्राह्मण भी सोचने लगा– जब राजा प्रसन्न होकर कह ही रहे हैं तो फिर सोच-समझकर ही माँगना चाहिए। दो माशा, चार माशा, तोला-दो तोला आकांक्षा बढ़ती रही और सम्पूर्ण राज्य पर जा टिकी। पर क्या मालूम, कभी राजा पुनः विद्रोह करके राज्य छीन ना ले, अतः राजा का ही काम-तमाम कर देना युक्त होगा। कृष्ण लेश्या के परिणाम

उभर गए। पर पुनः प्रवाह बदला और राजा के वध का अधम कृत्य! राज्य-सत्ता! मुझे क्या करना है इन सबसे! मैं ब्राह्मण हूँ, दो-चार गाँव की जागीरी ही पर्याप्त है। धीरे-धीरे लेश्या विशुद्ध हो गई। शुक्ल लेश्या के विशुद्ध परिणामों में कैवल्य ज्योति उपलब्ध हो गई। शुक्ल रंग त्याग का परिचायक है। रंगों का महत्त्व आजकल चिकित्सा जगत् में भी बढ़ रहा है। काँच के माध्यम से सूर्य की किरणों का प्रवेश करा कर रोगी की चिकित्सा की जाती है। अमुक रंग के काँच की बोतल में पानी भरकर अमुक रोगोपचार में लाभ देखा जा रहा है। अध्यात्म जगत् में भी ध्यान प्रक्रिया में रंगों को महत्त्व दिया जाता रहा है। इस प्रकार अपने ही भीतर सम्मोहन प्रक्रिया से लाल रंग के गिलास की कल्पना कर उस अनुभूति से बीमारी का इलाज भी किया जाता है। यदि हिंसा आदि के अशुभ परिणाम न हों तो शुक्ल लेश्या के परिणामों से बहुत-सी ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्याय में एक आख्यान है। मंडिकुक्षी उद्यान में एक महात्मा विराजमान थे। भव्य उन्नत ललाट, अनुपम सौंदर्य! महाराज श्रेणिक के मस्तिष्क में प्रश्न उभरने लगे युवावस्था में यह त्याग पथ क्यों? क्या घर में कोई अभाव था, दुःख था ? यह वैसी ही शंका थी जैसे आज के कई भाई साधु-महात्माओं के संबंध में करते हैं– गरीब रहे होंगे, पुरुषार्थ नहीं कर सकते थे तो पलायन कर लिया होगा क्योंकि संत बन जाने पर भोजन की समस्या हल हो जाती है। परन्तु ऐसा सम्पूर्ण चिन्तन ही रुग्ण मानसिकता का परिचायक है क्योंकि पुरुषार्थहीन व्यक्ति दीक्षा की पात्रता ही नहीं रखता। जो खा-पीकर प्रमाद में पड़ा रहता है, ऐसे संत को शास्त्रकारों ने 'पाप श्रमण' की संज्ञा दी है। वह पांच इन्द्रियों के पोषण को ही सब कुछ मान लेता है। श्री गणेशाचार्य फरमाते थे–

गृहस्थी केरा टुकड़ा, लम्बा लम्बा दाँत।
भजन करे तो ऊबरे, नहीं तो काढ़े आँत॥

ऐसे साधुओं के लिये निर्देश हैं— यदि इनसे बचना है तो रत्नत्रय में पुरुषार्थ करो। साधुत्व के नियमों की पालना हेतु कटिबद्ध हो जाओ। जो पाँच महाव्रत स्वीकार किए हैं, उनका पालन करो, नहीं तो प्रवंचना होगी। प्रवंचना से बचने के लिए स्वाध्याय एवं ध्यान करो अन्यथा तुम्हारी आत्मा ही तुम्हें प्रताड़ित करने वाली बन जायेगी। अस्तु, राजा ने सोचा— यदि इन्हें अभाव हैं तो मैं पूर्ति करूँगा, प्रचुर भोग-सामग्री चरणों में बिखेर दूँगा। जब मुनीश्वर का ध्यान पूर्ण हुआ तब राजा ने पूछ लिया— 'आपको क्या कमी है भगवन्! दुर्लभ मानव देह, रूप और यौवन का संगम, फिर साधु क्यों बन गये? यदि परिवार, अर्थ आदि की अपेक्षा हो तो मैं उसकी पूर्ति कर दूँगा।' मुनि शांत गिरा में कहने लगे— 'मगधेश्वर! मैं अनाथ था।' राजा ने तुरन्त कहा— तो मैं आपका नाथ बनने तत्पर हूँ। मुनि ने कहा— 'पर आप तो स्वयं ही अनाथ हैं, मगधाधिप!'

चिन्तन करिये— आप नाथ हैं या अनाथ? अनाथ! हाँ, हम कषायों के दास बने हुए हैं। इन्द्रिय-विषयों के राग-द्वेष की सनाथता तो हमने स्वीकार कर ली है, तभी तो यह दुर्दशा है। मुनि तत्त्वज्ञानी थे। जानते थे कि असली सम्पदा क्या होती है और वास्तविक स्वामित्व क्या होता है। जो व्यक्ति दूसरों पर निर्भर हो, जिसका दूसरों की सहायता के बिना काम न चले, वह तो दास हुआ। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति राग-द्वेष आदि कषायों का दास हो जाता है। जो भी इनके वश में हो, उसका स्वयं पर से स्वामित्व समाप्त हो जाता है। मुनि का कुछ ऐसा ही भाव था। परन्तु राजाजी यह गंभीर बात नहीं समझे और उत्तेजित हो गए— 'मैं अनाथ कैसे हो सकता हूँ?' कथानक बहुत विस्तृत है पर हमें तो उनके कथन के मर्म को समझना है। हम बाह्य सम्पत्ति के स्वामी भले बन जायें पर वह सच्चा स्वामित्व नहीं है। दुःख और दर्द के क्षणों में हमारा संतुलन कैसा रहता है, यह भी देखने की बात होती है। अनाथी मुनि के जीवन में भी दर्द उत्पन्न हुआ था, उपचार कोई

भी कारगर नहीं हुआ था। तब परमात्म-चरणों में संकल्प किया कि बीमारी ठीक हो गई तो दीक्षित हो जायेंगे। नींद आ गई। समर्पण का रसायन असरकारक हुआ था। आयुर्वेद चिकित्सा में रसायन की महत्ता निर्विवाद है। ऐसा ही यह रसायन भी हुआ। समर्पणकर्ता अनाथी मुनि ने त्याग के शुभ मार्ग पर पदन्यास किया था जो अन्तर में रंग लगा गया। यह प्रभाव है सच्चे समर्पण भाव का। सच्चा समर्पण छल-प्रपंच और स्वार्थपरता जैसे अवगुणों के त्याग के बिना संभव भी नहीं है। और जो इन प्रवृत्तियों का त्याग कर देता है वह निर्मल मन वाला बन जाता है। निर्मल मन वाले को भगवान् भी पसंद करते हैं। रामचरितमानस का प्रसंग है– रावण द्वारा लंका से निष्कासित विभीषण जब समुद्र पार राम से मिलने पहुँचा तब सुग्रीव के शंका प्रकट करने पर भी राम ने कहा था– 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट-छल-छिद्र न भावा।' गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि सभी आकर्षणों का त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हारे सभी पाप क्षमा कर तुम्हें कल्याण के मार्ग पर अग्रसर कर दूँगा। जो व्यक्ति सम्पूर्ण भाव से समर्पण नहीं करता उसके चित्त की दुर्बलता अथवा अस्थिरता उसे पूर्णकाम नहीं होने देती। दृढ़ निश्चय और संकल्प ऐसा मनोबल उत्पन्न कर देते हैं कि व्यक्ति अनोखी शक्ति से सम्पन्न हो जाता है और संकल्पशील के सामने तो पर्वत भी झुक जाता है। ऐसा समर्पण आत्मा का समर्पण होता है और जब आत्मा किसी शक्ति से जुड़ जाती है तब वह स्वयं शक्तिशाली बन जाती है। सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में 'आतम अर्पण' करने वाला भी तद्रूप बन जाता है तब उसे फिर संसार में भटकने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि दुविधा और दो-भाव का अंत हो जाता है और अपने क्योंकि जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

23. आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकता

सुमति चरणकज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी॥

इस विश्व में व्यक्ति जितना-कुछ देखता है, सुनता है, जितने का उपभोग करता है और जितने का स्पर्श करता है, उतना ही विश्व नहीं है। यह ब्रह्माण्ड अनंत है। इस अनंत ब्रह्माण्ड में आत्मा किस रूप में व्याप्त है, यह विचार का विषय है।

अंतर-चक्षु खुले बिना इस रहस्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अंतर-चक्षु खोलने का कार्य तो गुरु ही कर सकता है इसीलिए उसके निर्देश की आवश्यकता पड़ती है और चक्रवर्ती सम्राट तक उसके चरणों में झुकते हैं। महाभारत का प्रसंग है– द्रोणाचार्य राजकुमारों को अध्ययन करा रहे थे। एक पाठ दिया 'कोपं मा कुरु'। अन्य राजकुमारों ने तो पाठ सुना दिया पर युधिष्ठिर ने कहा– गुरुदेव मुझे पाठ याद नहीं हो रहा है। एक, दो और तीन दिन बीत गए, फिर भी यही जवाब। आवेश में आकर गुरुदेव ने चाँटा जड़ दिया। गुरु ने यह नहीं सोचा कि यह राजकुमार है। गुरु यदि ऐसे विचार रखे तो शिष्य को सम्यक् रूप से शिक्षित वह नहीं कर सकता। त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण भी जब गुरुकुल में थे तब, गुरु के पैर दबाते, जंगल से लकड़ियाँ लाते और सेवा के अनेक कार्य करते थे, यह नहीं सोचते थे कि मैं क्यों काम करूँ? गुरु से बढ़कर कोई दूसरी हस्ती इस जगत में नहीं है। कहा भी है–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय॥

गुरु ने ही गोविन्द रूप परमात्मा का स्वरूप बताया है, अतः गुरु ही प्रथम वंदनीय है। नमस्कार मंत्र में भी अरिहंत को पहले नमस्कार किया गया है जबकि सिद्ध आठ कर्मों का क्षय कर चुके

होते हैं। पर अरिहंत के बिना सिद्ध स्वरूप का ज्ञान कौन करायेगा? अरिहन्त ही उस स्वरूप के उद्गाता हैं। उन्हें 'चक्खुदयाणं' कहा गया है। बाह्य चक्षु तो इस शरीर के ढाँचे के निर्माण के साथ ही माता की कुक्षि में निर्मित हो जाते हैं पर अंतर-चक्षु मिलते हैं गुरु शरण से, संत संगति से। गुरु मार्ग बताने वाले हैं। गुरु ने चाँटा लगाया तो युधिष्ठिर ने कहा– गुरुदेव, अब कुछ याद हो रहा है। प्रसंग का जब स्पष्टीकरण हुआ तो युधिष्ठिर ने कहा– 'गुरुदेव, यदि शब्दों के कलेवर की बात होती तो मैं भी उसी वक्त सुना देता कि पाठ 'कोपं मा कुरु' है। पर शब्द तो निष्क्रिय होते हैं, निर्जीव होते हैं, वे किसी भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम होते हैं। यदि भाव को ग्रहण नहीं किया जाय तो केवल शब्द ग्रहण करने का कोई मतलब नहीं।' युधिष्ठिर का तर्क बिल्कुल सही था– क्रोध न करो यह भाव जब तक जीवन और व्यवहार में न उतरे, तब तक इन शब्दों को रटने का क्या लाभ? विचार करें कि जब कहा जाता है 'हिंसा मत करो' तो अभिप्राय होता है कि लोग हिंसा न करें, न कि इसे नारा बना कर इस कथन का प्रचार करें। जिन राजकुमारों ने पाठ तुरन्त याद कर के सुना दिया था उन्होंने मात्र शब्दों को पकड़ा था जबकि धर्मराज युधिष्ठिर उसके भाव अर्थात् निर्देश को पकड़ना चाहते थे अथवा उसे जीवन और व्यवहार में उतारना चाहते थे। उनके अनुसार पाठ याद करने का मतलब भी यही था और वे 'क्रोध न करो' के निर्देशानुसार अक्रोधी चिन्तन और प्रकृति के निर्माण में तुरन्त सफल नहीं हो पा रहे थे, प्रयास अवश्य कर रहे थे जिससे अक्रोधी प्रकृति का निर्माण कर सकें। बस, इसी में विलम्ब हो रहा था और इसे वे पाठ याद न होना मान रहे थे। अपनी-अपनी जगह पर गुरु और शिष्य दोनों ठीक थे परन्तु उनकी प्रतिक्रियाओं में जो अंतर था वह शब्द के अपने भाव के अनुसार अर्थ ग्रहण करने के कारण था। शब्द, उनके विविध अर्थ, उनके भाव, ग्रहणकर्ता अथवा प्रयोगकर्ता की प्रकृति, आवश्यकता, स्थिति आदि को इसीलिये समझना आवश्यक

है। यह समझ विकसित हो, इसके लिये दीर्घ काल तक सम्यक् प्रयासों की आवश्यकता होती है और जो ऐसे प्रयास कर लेते हैं वे ही विद्वान एवं ज्ञानी कहलाते हैं। गुरु की गणना ऐसे ही ज्ञानियों में होती है, जो अपने ज्ञान का आलोक चारों दिशाओं में विकीर्ण करते रहते हैं परन्तु उससे लाभान्वित उनके प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पणा रखने वाले ही होते हैं।

यह आत्म-समर्पणा भी सिद्धि-मार्ग की प्रथम सीढ़ी अथवा नींव होती है। यदि यह बुनियाद मजबूत हो तो भव्य भवन बनाने में आसानी रहती है। आत्म-समर्पण के इस प्रथम सोपान पर पदन्यास यदि सुदृढ़ होगा तो आगे हम मुस्तैदी से चल सकेंगे। प्रायमरी और मिडिल की शिक्षा जिसने भली-भाँति ग्रहण करली है उसे फिर ग्रेजुएट होने में दिक्कत नहीं आती। इसीलिये आत्मा को प्रथम सोपान पर ही सतर्क रहना चाहिए अन्यथा परमात्म-दर्शन में बाधाएँ आती हैं।

एक वैज्ञानिक ने दर्पण का आविष्कार किया जिसे व्यक्ति के सामने रख दें तो व्यक्ति दो दिखने लग जाते थे, उसका प्रतिबिम्ब भी उस दर्पण में दिखने लगता था। वह पुरस्कार पाने की अभीप्सा से राजा के पास पहुँचा। राजा ने दर्पण पहली बार देखा था। उसमें अपना स्वरूप देखकर वह हतप्रभ रह गया। पलकें ही नहीं झपकीं। सभा में बैठे लोगों को चिन्ता हो गई। यह क्या? इस व्यक्ति ने कहीं कोई जादू आदि तो नहीं कर दिया? आखिर रहा न गया तो एक दरबारी ने निवेदन किया– 'हुजूर! मैंने बुजुर्गों से सुना है– यदि व्यक्ति के दो रूप दिखने लग जावें तो अमंगल होता है।' दूसरा दरबारी भी बोला– 'हाँ-हाँ, हुजूर, जब दो रूप हो जाते हैं तो आयुष्य का भी उन दो रूपों में बंटवारा हो जाने से व्यक्ति की आयु कम हो जाती है।' तीसरे से भी चुप्पी न साधी गई, कहने लगा– 'हुजूर, यह बहुत बड़े अनिष्ट का सूचक है।' चौथे ने अर्ज की– 'यदि व्यक्ति के दो रूप दिखने की खबर लग जाय तो शक्तिशाली राजा के आक्रमण का अंदेशा होता है।' राजा भी शंकित

हो गया। नीतिकार भी कहते हैं– मूर्खों को शिक्षा देना, उनके क्रोध को ही बढ़ाना है। सर्प दूध का परिणमन विष-रूप में ही करेगा। 'पयःपानं भुजंगानाम् केवलं विषवर्धनम्'। कहा जाता है– एक ग्रामीण पटेल दिल्ली गया। उसने सुना था कि दिल्ली के ताज को शोभित करने वाला बहुत बड़ा आदमी होता है। हम भी विचार करें, बड़प्पन की पहचान क्या है? शरीर की ऊँचाई, शरीर की स्थूलता, धन की प्रचुरता, बुद्धिबल? अलग-अलग व्यक्ति के अपने-अपने मापदण्ड होते हैं। एक बार ऐसा ही प्रसंग दो शिष्यों के बीच उपस्थित हुआ। एक कहता था मैं बड़ा, तो दूसरा कहता था मैं बड़ा। आखिर विवाद पहुँचा गुरु के पास। गुरु ने कहा– भाई, जो दूसरों को बड़ा माने वही बड़ा है। उधर उस पटेल की भी जिज्ञासा जागी। बादशाह कैसे बड़ा है ? क्या उसका हाथी जितना शरीर होता है? मार्ग भी अज्ञात था, एक भले मानस व्यक्ति को देखा, पूछ लिया– बादशाह का मकान कहाँ है? विनोदपूर्ण उत्तर मिला– इस सड़क पर सीधे चले जाओ, बड़ी हवेली आयेगी। बादशाह वहीं रहते हैं। भाई, यह भी बता दो उनसे मिलने की विधि क्या है? व्यक्ति ने कहा– किसी भले आदमी को दो-चार जूतियाँ जड़ देना, तुम्हें बादशाह के दर्शन हो जाएंगे। पटेल ने दो-चार डग आगे भरे। विचार आया– अरे, बादशाह के दर्शन की विधि बताने वाले से अधिक भला आदमी और कौन मिलेगा! पीछे मुड़कर पुकारा– भाई साहब, जरा ठहरना। उसके पास पहुँचकर लगाई दो-चार जूतियाँ। वह व्यक्ति पटेल को ले गया दरबार में। बादशाह के द्वारा पूछने पर उसने स्पष्ट कर दिया– मुझे आपके दर्शन करने थे, उसकी जो विधि मुझे बताई गई थी, मैंने उसी का पालन किया है। बादशाह समझे गए कि उसे निर्देश सही नहीं मिला था अतः ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई। यह तो सामान्य-सी सांसारिक घटना है परन्तु यदि अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसा हो तो परिणाम कितना हानिकारक हो सकता है, समझना कठिन नहीं है। और यदि आत्मदर्शन की बातें भी हम करते हैं तो हमारा माध्यम कितना

सही होना चाहिए? वह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

दर्पण लाने वाले वैज्ञानिक पर राजा का क्रोध उमड़ा– 'इसने हमारे साथ मजाक की है। इसे कैद में डाल दिया जाय। यथासमय इसे दण्डित किया जायेगा। राजा की आज्ञा शीघ्र ही क्रियान्वित की गई। पुरस्कार की अभीप्सा थी पर कैद मिल गई। दरबारियों ने जो कहा, भले ही उन्हें उसका ज्ञान रहा हो या नहीं पर उनके भीतर सत्य समाया हुआ था। सत्य कैसे? चिन्तन करें– दरबारियों के कथन का मूल विन्दु था 'जो दो रूप में दिखाई देता है'। हम स्वयं का निरीक्षण कर लें और देखें कि हमारा एक रूप है, दो रूप में हैं या हमारे बहुरूप हैं। भगवान ने कहा है– 'जहा अंतो तहा वहिं' अर्थात् अन्तर-बाह्य जीवन में एकरूपता हो। इसके अभाव में क्या स्थिति बनती है? शास्त्रकारों ने कहा है 'अणेग चित्तो खलु अयं पुरिसो', वह पुरुष अनेक चित्त वाला हो जावेगा। उससे राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होंगी। पहले दरबारी ने कहा था– अमंगल होता है। यदि हम राग-द्वेष के कारण दो रूप वाले होंगे तो आत्मा का अमंगल ही होगा! क्योंकि जीवन में पवित्रता नहीं रहेगी, जिससे हम कर्म बाँधेंगे। परिणामस्वरूप दुःख और कष्ट के भागी होंगे। दूसरे ने आयुक्षीणता का संकेत दिया था। स्थानांग सूत्र में भी कहा है– अतिशोक, अतिचिंता से आयु कम होती है। एक बाती वाला दीप सारी रात अंधकार को दूर करने में समर्थ हो सकता है पर यदि हमारे जीवन रूपी दीप में शोकादि की अनेक बातियाँ जलने लगें तो आयु रूपी तेल शीघ्र समाप्त हो जायेगा। मनःस्थिति का प्रभाव भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों की कार्यक्षमता पर पड़ता है, शरीर दुर्बल होता है और इन्द्रियाँ क्षीण होती हैं। परिणामस्वरूप शरीर की निरोधात्मक शक्ति कम हो जाती है, रोग शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और मनुष्य को उसके अंत की ओर ढकेल देते हैं।

तीसरे दरबारी ने कहा था– अनिष्ट संभावित है। स्पष्ट ही है कि हमारा इष्ट परमात्म चरण है पर यदि हम द्विरूपता में उलझ

जायेंगे, तो इष्ट से दूर और अनिष्ट की ओर बढ़ जायेंगे। द्विरूपता निर्णय-क्षमता को कुण्ठित कर देगी, इस कारण सम्यक् निर्णय नहीं लिये जा सकेंगे। जब निर्णय सम्यक् नहीं, अविवेक से निर्देशित होंगे तो स्पष्ट ही है कि वे अनिष्ट की ओर ले जायेंगे। चौथे ने शक्तिशाली सम्राट के आतंक का भय व्यक्त किया था। मोह रूपी महाराजा का आधिपत्य हमारी आत्मा पर छा जावेगा। परिणामस्वरूप हम पथभ्रष्ट हो जायेंगे और स्वयं ही अपना अहित कर लेंगे। यह तो हमारे चिन्तन का एक पक्ष है। वस्तुतः शब्दों के हार्द को ही समझना होगा। शब्द दुधारी तलवार की तरह होते हैं। थोड़ी-सी भी असावधानी से खतरा पैदा हो सकता है। यदि अर्थ का अनर्थ संसार वृद्धि का कारण हो सकता है तो अनुप्रेक्षा से संसार से तिराने में भी वह सहायक हो सकता है। शब्द से यदि श्रद्धा में न्यूनता आ गई तो वह ह्रास का कारण बन जायेगा। वही शब्द यदि श्रद्धा भावों से चिंतन का विषय बने तो वह आगे बढ़ाने वाला बन जाता है।

महासती मृगावती उपाश्रय में देर से पहुँची। चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया– आप उच्च कुल की हैं, साधु-मर्यादा में इस प्रकार की भूल शोभनीय नहीं है। गुरुवर्या के वचनों को सुन मृगावती ने शुभ चिन्तन ही किया– अहो ! मेरे निमित्त से, भूल के आचरण से उन्हें कष्ट पहुँचा है जबकि इनकी भावना है मेरा जीवन उन्नत बने। व्यक्ति एक ही शब्द को अपने चिन्तन के अनुरूप ढाल सकता है। यदि चिन्तन सुमति से प्रेरित हो तो वह कल्याणकरी बन सकता है और यदि कुमति अथवा अहंभाव से प्रेरित हो तो हानि भी पहुँचा सकता है। मृगावती ने यह नहीं सोचा कि इतनी-सी भूल के लिए उपालम्भ देने की क्या बात थी? क्या और किसी से ऐसी गलती नहीं होती। परन्तु वे जानती थीं कि गुरु शिष्य का हित-चिन्तक होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है कि गुरु कठोर शब्दों में शिक्षा दे तो भी शिष्य उसमें अपना हित सन्निहित समझे। मृगावती ने उस उपालम्भ को सही दिशा में संयोजित किया

तो केवल्य आलोक को प्राप्त कर लिया। निर्जीव शब्दों में साधना का रस भर दिया, वे सजीव हो गए। नन्दी सूत्र में कहा गया है– सम्यक् दृष्टि के लिए मिथ्या श्रुत सम्यक् रूप में, और मिथ्या दृष्टि के लिए सम्यक् श्रुत भी मिथ्या रूप में परिणत हो जाते हैं। पात्रता के अनुरूप परिणमन होता है।

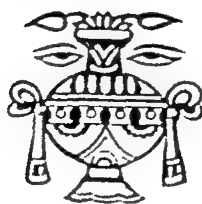
राजा ने दर्पण भेंटकर्ता को फाँसी की सजा सुना दी। अंधेर नगरी, चौपट राजा। प्रजा ने भी सहमति दे दी। राजा ने न्यायिक प्रावधान के अनुरूप निर्देश दिया कि अपराधी की अंतिम इच्छा जान ली जाये और पूरी की जाये। अपराधी ने कहा– 'मेरी अंतिम अभिलाषा यही है कि राजा एक बार उस दर्पण में देख लें।' राजा ने कहा– 'ठीक है, उसकी इच्छा पूरी की जाय।' पर दरबारियों ने मना कर दिया– 'नहीं राजन्! यह हर्गिज नहीं होगा। चेहरा किसी हालत में नहीं देखने देंगे।' राजा ने कहा कि 'यदि इच्छा पूरी नहीं की गई तो उसे प्राणदंड भी नहीं दिया जा सकेगा।' दरबारियों ने कहा– 'भले नहीं हो, पर आपको हम यह कार्य नहीं करने देंगे।' आखिर अपराधी को कैद में ही रखा गया और दर्पण को कपड़े में लपेट कर एक कोने में डाल दिया गया। उधर रानीजी के कान में खबर पड़ी कि राजा के पास कोई ऐसी वस्तु है जिसमें अपना चेहरा देखा जा सकता है। उसने दासियों को आदेश दिया, 'दर्पण लाया जाय।' दासियों ने भयभीत होते हुए शंका व्यक्त की कि महाराज नाराज हो जायेंगे। पर रानी ने प्रलोभन देकर व तरकीब से दर्पण हासिल कर लिया और उस पर जमी धूल हटाकर दीवाल में लगवा दिया। दर्पण में अपना रूप निहार कर रानी तो प्रसन्नता से भर उठी। उसने शृंगार करके अपने रूप को और निखारा और राजा के पास पहुँची। राजा उस सौंदर्य को देखकर ठगा-सा रह गया। अब दर्पण के सम्मुख बैठना रानी का नित्यकर्म बन गया। दर्पण के सामने बैठ कर वह घंटों अपना शृंगार करती और राजा को प्रसन्न करने का प्रयास करती। राजा ने एक दिन पूछ ही लिया– क्या बात है, महारानी ! आजकल तुम्हारा सौंदर्य निखरता

जा रहा है। रानी ने कहा– यदि गुनाह माफ हो तो कहूँ। राजा ने कहा– हाँ, हाँ कहो। तुम्हें किस बात का भय है! रानी ने सारी बात कह सुनाई। राजा आश्चर्यचकित हुआ। अरे! क्या उस दर्पण का यह कमाल है? पर मुझसे तो कहा गया था कि उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखना अनिष्ट व अमंगल को निमंत्रण देना है। परन्तु रानी ने तो उस दर्पण से अपने रूप को संजाया था।

परमात्म रूपी दर्पण की सहायता से अपनी आत्मा को शृंगारित करने का प्रयास करें क्योंकि यह सत्य है कि भीतर कुछ और बाहर कुछ और बने रहेंगे तो अपने वास्तविक सौंदर्य-चरित्र सौंदर्य को नहीं निखार पाएंगे। दर्पण तो दोनों को प्राप्त हुआ था पर एक के लिए यदि वह भय का कारण बना तो दूसरे के लिये वह वरदान बन गया।

इस कथा को एक रूपक मान कर इसके कथ्य पर विचार करें। दर्पण का प्रतिबिम्ब व्यक्ति के रूप की वास्तविकता से उसे परिचित करा देता है और चेहरे पर लगे उन दाग-धब्बों को दिखा देता है जिन्हें व्यक्ति अपनी ही आँखों से नहीं देख पाता। इस प्रकार दर्पण यथार्थ का दिग्दर्शक होता है। दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख कर यदि व्यक्ति अपने रूप को संवार सकता है तो परमात्म रूपी दर्पण में पड़े अपने प्रतिबिम्ब को देख कर व्यक्ति को अपने चारित्रिक दोषों का पता चल सकता है और वह उन्हें दूर कर पवित्र आत्मा बन मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। परन्तु यह सब उसके अपने मनोबल एवं आत्मविश्वास पर निर्भर है। व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ उसके आत्म-व्यक्तित्व को विविध रूपों में उजागर करती हैं परन्तु यह मनुष्य के आत्मबल पर निर्भर है कि वह हृदय अथवा आत्मा के दर्पण में उन्हें देखने का प्रयास करता है या नहीं? यदि कथा के राजा के समान वह कुप्रभावों अथवा अंधविश्वासों से आक्रान्त हो जाता है तो वह अपना सुधार कर चारित्रिक दृष्टि से सुरूप नहीं बन पायेगा, परन्तु यदि वह रानी के समान निडर

और दृढ़ स्वभावी बनता है तो वह अपनी आत्मा, हृदय के भावों तथा विचारों का अपेक्षित संस्कार कर स्वयं को एक पवित्र व्यक्ति के रूप में उपस्थित कर सकेगा, ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसकी सभी प्रशंसा करेंगे। अतः आवश्यक यह है कि व्यक्ति प्रमाद, भय और कुविचार त्यागे और परमात्म रूप दर्पण की सहायता से आत्मनिरीक्षण कर अन्तर-बाह्य एकरूपता स्थापित करने का प्रयास करें। इससे स्व-स्वरूप को निखार पाएंगे। यह निखार जीवन की धारा की दिशा ही बदल देगा और हमें भी परमात्मवत् बना देगा। युधिष्ठिर द्वारा पाठ याद न होने की स्वीकृति इसी दिशा में उनके द्वारा किये जाने वाले प्रयासों से परिचित कराती है। हम भी आत्मवान बनें, आत्मवत बनें, आत्मरूप बनें।



24. आहारचर्या का स्वरूप

'आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे णिउणत्थ बुद्धिं।
निकेय मिच्छेज्ज विवेग जोगं, समाहि कामे समणे तवस्सी॥'

उत्तरा. अ. 32/4

प्रत्येक आत्मा सुख चाहता है, समाधि का इच्छुक है और अशांति-द्वंद्व के बीच बेचैनी महसूस करता है और प्रयास करता है कि उसके जीवन में शांति बनी रहे लेकिन फिर भी जीवन में यदि द्वंद्व आ जाता है तो उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण होता है कर्मों का उदयभाव होना समाधि-असमाधि भाव बाहर से नहीं आता। हमारे भीतर से ही प्रकट होता है। असमाधि अपेक्षा-भावों की वजह से उत्पन्न होती है। भगवान ने कहा है– 'संकप्पस्सवसं गओ' संकल्प-विकल्प में उलझने पर समाधि-भाव नहीं रहता। जब साधक सब-कुछ त्याग कर आगे बढ़ा है, संयमी बना है, फिर क्यों उलझा है? इस आनंद के पथ में संकल्प-विकल्प क्यों पैदा हुए? यदि संकल्प-विकल्प आये हैं तो समाधान करना चाहिए अन्यथा वह खेद को प्राप्त होगा। समाधि के लिए प्रभु ने तीन बातों की आवश्यकता बताई है– आहार, सहाय और निकेय। आहार शरीर के लिए आवश्यक है। अंतिम क्षणों से पूर्व कुछ समय के लिए आहार त्याग किया जा सकता है। उसके अलावा शरीर के लिए आहार की आवश्यकता होती है। औदारिक शरीर आहार के अनुग्रह से, उपकार से, स्फूर्ति को प्राप्त करता है परन्तु उसके अभाव में क्षीण होने लगता है। प्रभु ऋषभदेव जब साधना पथ पर बढ़े तब उन्होंने अभिग्रह धारण किया था। परन्तु जनता को प्रासुक आहार दान-विधि ज्ञात नहीं थी। अतः उनकी काया कृश होने लगी। वज्र ऋषभ नाराच संहनन के धनी थे फिर भी आहार के अभाव से काया पर असर पड़ने लगा। पहिचान में आना भी कठिन हो गया। उस समय तो दिन में एक बार ही आहार करते थे। पर

आज स्थितियां बदल गई हैं, अब तो दिन में कई बार आहार ग्रहण कर लेते हैं। आहार से शरीर में स्फूर्ति आती है पर यदि स्वाद-लोलुपता से अति आहार की स्थिति बनती है तो परिणाम होता है– अजीर्ण, उत्साह की कमी, आलस्य। घोर तपस्वी श्री अमरमुनिजी म.सा. की तप के विषय में कैसी रसायन थी, आप परिचित हैं। कभी स्वास्थ्य की स्थिति से गुरुदेव मना भी करते पर उन्हें तो तप के बिना बेचैनी होने लगती। उन्होंने कहा भी था कि मैं तपस्या में नहीं मरूँगा। हुआ भी यही था; पर कहने का तात्पर्य यह था कि तपस्या से मृत्यु नहीं होगी। बहुत साहस रखते थे।

यदि क्षय रोग न हो तो तपस्या से लाभ ही होता है, हानि नहीं। शास्त्रकारों ने आहार करने के 6 कारण बताये हैं और 6 कारणों से आहार-त्याग का निर्देश किया है। रोग हो जाय तो आहार-त्याग करने को कहा है। आयुर्वेद शास्त्र भी कहता है कि यदि क्षय रोग का ज्वर नहीं अपितु सामान्य ज्वर है तो लंघन करना चाहिए, जैसे आफिस में सप्ताह में एक दिन अवकाश रखा जाता है। वैसे ही सात दिनों में एक लंघन रखना चाहिए। पर आज व्यक्ति इस पेट की आफिस को अवकाश ही नहीं देता। फिर गड़बड़ी क्यों नहीं होगी? इस मशीनरी की सुरक्षा में तप रूपी तेल उपयोगी है पर हमारे सामने ज्योंही हमारी प्रिय वस्तु आई, पेट नहीं चाहता पर मन रसना के वशीभूत हो जाता है। पर यह पेट कितना समभावी है– चाहे जो डालो, जब चाहो तब डालो, जबरदस्ती डालो। हाँ, यदि पानी बाँध से ऊपर ही हो जाय तो फिर वमन, विरेचन से भले निकाल दे।

अन्यथा बेचरा झेलता रहता है। आहार कैसा होना चाहिए, इस संबंध में शास्त्रकार कहते हैं– 'मियं एसणिज्जं'। आहार की मर्यादा के संबंध में उत्तराध्ययन में कहा गया है– 'मायण्णे असणपाणस्स' (2।3।)। आहार क्यों किया जाय? कितना, कैसे और कब किया जाय? क्यों के उत्तर में प्रभु ने 6 कारण बता दिये। प्रश्न होता है कि आहार करता हुआ साधु धर्म-उपार्जन करता

है या पाप? यदि साधु अपने साध्वोचित गुणों में निमग्न है, शरीर रूपी मकान का किराया चुकाता है तो वह धर्म-उपार्जन करता है। और श्रावक भी यदि आहार करता हुआ यह लक्ष्य रखता है कि यह आहार मेरे लिए हुए व्रतों में स्थिर रखने का हेतुभूत है, धर्मोपार्जन में सहायक है तो उसे एकान्त अधर्म नहीं कहा जा सकता। राजा प्रसेनजित ने राजगद्दी देने हेतु योग्यताओं की परख करने की भावना से राजकुमारों की परीक्षाएं ली। एक परीक्षा यह भी ली गई– सारे राजकुमारों को पंक्तिबद्ध बिठाकर शाही भोजन परोसा गया। भोजन प्रारंभ होते ही खूंखार शिकारी कुत्ते छोड़ दिए गये। कुत्ते भोजन पर टूट पड़े, अब वह भोजन कौन खा सकता था? सामान्य मनुष्य के लिए भी दुष्कर। यह बात अलग है कि पेट की चपेट कुछ मजबूर कर दे। एक बार कहीं पढ़ा था– एक वृद्धा घोड़े की लीद में से अन्नकणों को चुनकर उनसे अपने छोटे बच्चों के लिए रोटी बनाती है। आप सोचते होंगे– वह अपने कर्मों का फल भोग रही है। पर आपके भीतर, आपके हृदय में भी करूणा नाम की कोई चीज है या नहीं? मान लीजिए, कोई करोड़पति सेठ दुर्घटनाग्रस्त हो गया। कर्मों का उदय आ गया, तो उसे अस्पताल में ले जाया जायेगा या नहीं? एक व्यक्ति भयंकर दर्द से पीड़ित है। यदि उसे उस समय कोई दर्द दूर करने की गोली दी जाय तो उसे आराम मिलेगा या नहीं? इसी प्रकार व्यक्ति के कर्मों का उदय तो है पर यदि आपका सहयोग मिल जाय तो उस व्यक्ति के उदय भाव के रसों में कमी हो सकती है। राजकुमार भोजन छोड़कर खड़े हो गए, पर एक राजकुमार श्रेणिक ने विचार किया कि मेरे पास इतना सारा भोजन है। एक पूरी उठाई और कुत्ते की दिशा में करके दूर फेंक दी, कुत्ता उस पूरी पर झपटा तब श्रेणिक ने दो-चार ग्रास गले उतार लिये और पुनः-पुनः कुत्ते को कुछ देकर दूर भगा कर भरपेट भोजन कर लिया। यह था भावना और विवेक का परिचय। भोजन के साथ हमारे भावों का महत्त्व ही महत्त्वपूर्ण होता है। आहार हो शरीर को टिकाने के लिए, स्वाद-

लोलुपता से तो इन्द्रिय पोषण सक्रिय होगा और फिर 'अशुभयः पापस्य' अशुभ भावों से पापकर्मों का आश्रव होगा। पर हमें तो समाधि के प्रयोजन से आहार करना है। श्रेणिक के द्वारा कुत्तों की ओर आहार फेंकना 'स्वतृप्ति' की दृष्टि से था। इसी तरह हम भी इस काया रूप कुत्ते को टुकड़े देवें। हमें इसका निर्वाह करना है। काया रूपी कार को चलाना है ताकि यात्रा निर्बाध तय हो सके। टंकी में पर्याप्त पेट्रोल की जरूरत तो होगी ही पर टंकी में पेट्रोल कितना डाला जाय? यदि टंकी में 5 लीटर ही समाता है तो अधिक भरना संभव नहीं। जरूरत हो तो अलग डिब्बे में उसकी व्यवस्था करनी होगी। इसी तरह मोक्ष रूपी गंतव्य तक पहुँचाने में यह औदारिक शरीर रूपी कार साधनभूत है और इसके निर्वाह के लिए आहार रूपी पेट्रोल यथोचित मात्रा में आवश्यक है। अति आहार असमाधि को उत्पन्न करेगा। ब्रह्मचारी के लिये तो आहार के संबंध में स्पष्ट निर्देश उत्तराध्ययन में दिये गये हैं। वहाँ उल्लेख है कि साधु स्वाद के लिये नहीं किन्तु जीवन यात्रा के निर्वाह के लिये भोजन करे– 'न रस्सट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी' (35।17)। ब्रह्मचारी को तो इस दृष्टि से अत्यंत सचेत रहना चाहिये–

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं। (32।10)
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी। (32।10)

अर्थात् ब्रह्मचारी को घी-दूध आदि रसों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिये क्योंकि रस प्रायः उद्दीपक होते हैं। उद्दीप्त पुरुष के निकट कामभावनाएँ वैसे ही चली आती हैं जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्षों के पास पक्षी चले आते हैं।

आहार के साथ समाधि के लिये सहाय और निकेत की भी जरूरत होती है। यह सब समझकर ही हम अपने जीवन को समाधि की ओर अग्रसर करें।



25. आहार समीक्षा

चित्त की चपलता और मन की उड़ान की कोई सीमा नहीं। मन के विचार कभी आरोहित होते हैं, कभी तिरोहित। ये कभी शुभ दिशा में जाते हैं तो कभी अशुभ दिशा में प्रवाहित होते हैं। परिणामस्वरूप मानसिक अवस्था संतुलित नहीं रह पाती। परमात्म-चरणों में समर्पण से पूर्व मन की दिशा सही नहीं हो तो आत्मा का समर्पण बन पाना कठिन होगा। मन का संबंध भी वातावरण से जुड़ता है और उससे प्रभावित होता है, मन का संबंध भोजन के साथ भी जुड़ता है। कहा भी गया है– 'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन।' इसी दृष्टिकोण से प्रभु ने समाधि के इच्छुक साधक के लिए आहार व्यवस्थित करने का निर्देश किया है। आहार ऐसा करना चाहिये जो हमें समाधि की ओर ले जावे और हमें संकल्प-विकल्पों में न उलझावे।

आयुर्वेद ग्रंथों में आहार को देह निर्माण का कारण माना गया है और यह सच भी है कि आहार से देह का चय-उपचय देखा जाता है। 'अन्न वै प्रजापतिः' कह कर अन्न को प्रजापति माना गया है। प्रश्नोपनिषद् में आहार को विधाता की संज्ञा दी गई है। आहार देह का कारण है और देह की स्वस्थता से मन स्वस्थ रहता है, और मन का संबंध साधना से जुड़ता है। इस प्रकार समाधि भाव के लिए आहार परम्परा से कारण रहा है। आयुर्वेद ग्रंथ यह मानते हैं कि पाँच भौतिक तत्त्वों से यह शरीर बना है—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश। आधुनिक रसायन शास्त्री भिन्न शब्दों में यही बात कहते हैं। वे शरीर निर्माण के पाँच घटक मानते हैं प्रोटीन, खनिज, चर्बी, शर्करा और जल। आहार कैसा हो– इसके लिए हमें शरीर का स्वभाव जानना होगा। इसे जाने बिना शरीर का निर्माण सम्यक्रीत्या न हो सकेगा।

सप्त धातुओं से यह शरीर बना है और प्रोटीन धातु निर्माण

का मुख्य घटक है। हमारे भीतर शक्ति-निर्माण करने वाली शक्ति को सेल्स की संज्ञा दी गई है। ये सेल्स आहार ग्रहण करने से बनते हैं और कार्य करने पर ये क्षीण भी होते हैं। जैसे घड़ी और टार्च में सेल्स डाले जाते हैं और उपयोग करने के बाद वे समाप्त हो जाते हैं वैसे ही शरीर में भी इनका निर्माण व क्षय होता है। तपस्या से शरीर कृश होने लगता है क्योंकि शरीर के भीतर सेल्स खर्च तो होते हैं पर जितने चाहिए उतने बन नहीं पाते। हमारे भीतर धमनियों में रक्त निरन्तर बहता रहता है। भौतिक-रसायनशास्त्रियों का मानना है कि उसमें उपस्थित लाल रक्त-कण व्यक्ति की जीवनी-शक्ति के साथ संयुक्त रहते हैं और एक दिन में दस खरब की संख्या में ये नष्ट होते हैं। योग्य पाथेय के बिना इनका निर्माण कैसे हो सकेगा? यदि नहीं होता तो शरीर सूखने लगता है। उसमें उठने-बैठने की शक्ति नहीं रह पाती। काकन्दी के सुनक्षत्र अणगार ने तप से अपनी देह को जर्जरित कर दिया। वे बेले-बेले की तपस्या व पारणे में भी आयंबिल तप करते थे। आयम्बिल की प्रक्रिया भी आज की तरह नहीं कि 20/25 पदार्थ ले लिये जायें, अपितु ऐसा आहार जिसे भिखारी भी न चाहें, कुत्ते-कौए भी जिसकी इच्छा न करें, ऐसा तुच्छ-रूक्ष आहार यदि दाता के हाथ संसृष्ट हों, तो ग्रहण करते थे। कभी मिला तो ठीक, नहीं तो पुनः बेले का तप अंगीकार कर लेते थे। कहा गया है कि जिनके हाथ-पैर कौए की जंघा की तरह क्षीण हो गए, मात्र हड्डियों का ढाँचा रह गया, मांस व शोणित सूख गए, जब चलते तो ऐसी खड़-खड़ ध्वनि होती जैसे कोई लोहे का भंगेरा गाड़ी में ले कर चले, फिर भी अम्लान भाव से तपस्या करते। कोई आर्त भावना नहीं। शरीर की नहीं, किन्तु आत्मा की अद्भुत रौनक उभर आई। ऐसा तप भी होता है परन्तु ध्यान रखना होगा रक्त कणों की, जिनका संबंध जीवनी शक्ति के साथ होता है। आगमों में उल्लेख आता है। साधक दीक्षा लेते और उच्च अध्ययन अध्यापन कर ज्ञान हासिल कर लेते, फिर सोचा जाता कि तप के माध्यम से कर्मों का क्षय किया जाय। जिन

उद्देश्य से परिवार को छोड़ा है उस आत्मकल्याण के कार्य में अपना पुरुषार्थ जोड़ लेते। शरीर निर्माण के लिए जो पाँच घटक बताये हैं उनके माध्यम से आहार का चयन किया जा सकता है। प्रोटीन द्वारा धातु निर्माण होता है। सामान्यतः एक व्यक्ति के लिए 35 ग्राम प्रोटीन पर्याप्त होता है। यदि इसकी पूर्ति ना हुई तो फिर अक्षय कोष से इसकी पूर्ति होती है। यदि अधिक मात्रा में आहार का सेवन किया जाय और पाचन शक्ति दृढ़ है तो जितनी जरूरत है उसका पाचन हो जावेगा और शेष अंश मल भाग में विसर्जित कर दिया जावेगा। पर यदि पाचन शक्ति कमजोर है तो आवश्यक अंश ग्रहण के बाद शेष अंश चर्बी के रूप में जमा हो जायेगा। हम जो आहार करते हैं वह उसी रूप में भीतर नहीं रहता, वहाँ उसकी छँटनी होती है। सभी तत्त्वों का अलग-अलग विभाग होता है और फिर जिस अंग के लिए जितनी जरूरत हो उतनी सप्लाई की जाती है। इस प्रकार से यों कहें कि एक प्रकार से उद्योगशाला कि भाँति सारी क्रियाएँ संपन्न होती हैं। अति आहार से चरबी बढ़ेगी। परिणामस्वरूप कार्यक्षमता मंद होगी, यद्यपि चरबी से ऊष्मा व शक्ति मिलती है पर अतिरेक अनुपयोगी है। शर्करा की आवश्यकता क्यों है? एक वैज्ञानिक आकाश की ऊंचाई पर उड़ा और वहाँ आक्सीजन नहीं मिल पाने से उसे बेहोशी आ गई। नीचे लाकर जब उसकी 'शुगर टेस्ट' की गई तो मालूम हुआ शुगर की मात्रा न्यून है। एक व्यक्ति में शुगर बहुत कम हो गई तो वह घड़ी देख पाने में भी समर्थ ना हुआ, उसके मस्तिष्क की सक्रियता, निर्धारण-क्षमता घट गई। शारीरिक श्रम करने वाले को प्रोटीन और खनिज की अधिक आवश्यकता होती है और मानसिक श्रम के लिए शुगर की आवश्यकता अधिक होती है। ये घटक शरीर निर्माण के उपकारक है।

प्रभु ने कहा है– साधक को आहार मित अर्थात् अल्प-उतना ही करना चाहिए जितने में उसका निर्वाह भली-भांति हो जाये। क्योंकि पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करने के लिये इस देह की सार-

सम्हाल आवश्यक है– 'पुव्वकम्मखयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे' (उत्तराध्ययन 6।14)। इसलिये स्वाद के लिये नहीं, जीवन यात्रा के निर्वाह के लिये भोजन करे– न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी (उत्तराध्ययन) 35।17। क्योंकि स्वाद-लोलुपता से यदि अधिक भरती कर ली गई तो शरीर में समाधि नहीं रहेगी और फिर साधना भी नहीं बन पाएगी। शरीर की असमाधि से उसका साथी मन भी असमाधिस्थ हो जाएगा। एक व्यक्ति एक ही आसन में लंबे समय तक नहीं बैठ पाता है और योग साधना के लिए शरीर को साधन माना गया है। यदि 3 घंटे एक आसन में बैठ सके तो फिर योग साधना के आगे की अवस्था बन पाती है। पर यदि उसे बेचैनी होती है तो फिर योग साधना में प्रवेश कैसे हो सकेगा। मन को वश में करने के लिए शरीर को वश में करना होगा और फिर मन शरीर के निर्देशानुसार कार्य में तत्पर होगा। भोजन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। तामसिक आहार करने वाला हिंसक प्रवृत्ति में बढ़ता है। सात्विक भोजन साधना में सहयोगी होता है। निरन्तर सात्विक भोजन से क्रूर भावना नहीं पनप सकती। यह भोजन का प्रभाव है। यह अन्नमय कोष है जिसे 'फिजिकल बाडी' कहा गया है। यह भी कब तक सहयोगी होगा जब तक सात्विकता के साथ संयोजन होगा। मस्तिष्क का कार्य करने वाले के लिए मांसाहार उपयोगी नहीं है, मांस में शर्करा का अभाव होता है शरीर के लिए भी मांसाहार उपयुक्त नहीं है। क्योंकि इसमें प्रोटीन की अधिकता होती है। यह अधिकता घातक होती है। अधिक प्रोटीन किडनी पर दबाव डालता है। किडनी हमारे ग्रहण किए गए आहार को छानती है। मल-मूत्र को बाहर निकालती है। निरन्तर प्रोटीन के दबाव से उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है। रक्तवाहिनी नाड़ी धमनी एक पतले पाइप के रूप में है, अधिक प्रेशर से पाइप फट जाता है, खून की सप्लाई बराबर नहीं हो पाती और धमनियों में अधिक प्रोटीन जमने से खून का प्रवाह बराबर नहीं होता। परिणामस्वरूप हृदय को आघात लगता है, धमनियाँ बराबर काम

नहीं कर पाती और अधिक श्रम का भार हृदय पर पड़ता है। निरन्तर कार्य के अतिरेक से स्थिति जटिल बन जाती है और जब हम कार्डियोग्राम से जाँच कराते हैं तो ज्ञात होता है कि हृदय काम नहीं कर रहा है। यदि सावधानी न रहे तो हार्ट फेल हो सकता है अथवा हृदय की बीमारी हो सकती है। इस प्रकार स्वाद-लोलुपता से शारीरिक क्षति होती है। साथ ही मांस मनुष्य का आहार नहीं है। शारीरिक रचना की भिन्नता इसका कारण है। शाकाहारी के दांत चपटे व मांसाहारी के नुकीले होते हैं। ज्ञात हुआ है कि हाथी और बंदर पूर्णतया शाकाहारी घोषित किए गए हैं और शारीरिक-मानसिक बल भी इनका विशेष होता है। मांस में अधिक प्रोटीन होने से आलस्य व प्रमाद भी बढ़ता है। शाकाहार में सब्जियों के ये घटक न्यूनाधिक मात्रा में होने से तत्त्वों की पूर्ति हो जाती है और शरीर में सक्रियता बनी रहती है।

महाभारत का प्रसंग है– श्रीकृष्ण दुर्योधन के पास पहुँचे थे और सन्धि की भावना से 5 गाँवों की पाण्डवों के लिए माँग रखी थी। दुर्योधन ने कहा– आप विराजिये, भोजन के पश्चात बातचीत करेंगे। पर कृष्ण ने कहा– पहले काम-काज, फिर भोजन-विश्राम। इसके पीछे यही कारण था कि जिसका जैसा आहार कर लिया गया तदनुरूप ही मति बनेगी। बड़े-बड़े चोर भी सिद्धान्तवादी होते हैं। यदि किसी का नमक खा लिया तो उसकी चोरी नहीं करते। नमक अर्थात् अन्न खा लिया तो उसके प्रति सहज लगाव हो जाता है। इसीलिए जो न्यायाधीश होते हैं वे सहसा किसी के घर नहीं जाते। यदि कहीं उन्हें जाना आवश्यक हो तो उन्हें जानकारी देनी पड़ती है। यदि वे ज्यादा सम्पर्क बढ़ायेंगे, किसी के घर आहार-पानी लेंगे तो फिर उनके प्रति सद्भाव बन जायेगा और संभव है, वे सही फैसला नहीं कर पायें, मुलाहिजे में आ जायें। हमारा मस्तिष्क संतुलित रहे और हम नैतिकता के धरातल पर स्थित रहें– यह सुनिश्चित करना आवश्यक होता है। अतः अन्न का साधना और समाधि भाव के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।

व्यक्ति का आहार के तरीके से भी परिचित होना जरूरी है। ऐसा न हो कि समय नहीं है का बहाना करके जो कुछ आया, फटाफट गले के नीचे उतार कर इतिश्री समझ ले। इस प्रकार पूरी तरह से चबाने की प्रक्रिया भी नहीं हो पाती। सुश्रुत संहिता में बताया गया है– 'ईर्ष्या, भय, काम, क्लेश और द्वेष से अलग हटकर भोजन करना चाहिए अन्यथा भोजन का परिणमन सही नहीं होता। परिणामस्वरूप पाचन तंत्र में जो रस का स्राव होता है वह नहीं हो पाता। पाचन तंत्र सिकुड़ जाता है। रसों का स्राव न होने से पाचन बराबर नहीं होता, कब्जी होने लगती है जो अन्य अनेक रोग उत्पन्न करती है। भोजन करते समय पाँच बातों का ध्यान रखना चाहिए। (1) चित्त में प्रसन्नता हो, (2) तनाव नहीं हो, (3) चिन्ता नहीं हो, (4) भय नहीं हो, (5) क्रोध नहीं हो। क्रोध, भय आदि से पाचन तंत्र सक्रिय नहीं रह पाता। धमनियों में जो रक्त बह रहा होता है वह क्रोध के कारण मस्तिष्क तक पहुँच नहीं पाता और 'ब्रेन हेमरेज' की संभावना बन जाती है। रक्त के दबाव को धमनी सहन नहीं कर पाती तो वह रक्त थक्का बन कर बाहर निकलता है और जम जाता है। भोजन के समय भय की स्थिति रहे तो भय की अवस्था में रक्त का प्रवाह मस्तिष्क की ओर अधिक हो जाता है और पाचन क्रिया हेतु आवश्यक रक्त उपलब्ध नहीं हो पाता। फलतः पाचन-अंग क्रियाशील नहीं हो पाते और तत्त्वों की छँटनी उचित रूप में नहीं हो पाती। यदि किसी ऑफिस में 20 आदमी कार्यरत हों और यदि उनमें से 15 लम्बे समय तक अवकाश पर चले जाएँ तो शेष 5 आदमी काम संभाल नहीं पायेंगे और ढेर-सारा कार्य इकट्ठा हो जायेगा। जब रक्त कणिकाएँ कार्य नहीं कर पाती और स्थान खाली रह जाता है तो आहार जमा होता है और दबाव लिवर पर पड़ता है जिससे दर्द होता है। क्रोध में आहार ग्रहण किया गया तो लिवर खराब होगा और अल्सर, जलन आदि पैदा होंगे।

आहार के साथ भावों का गहरा संबंध होता है। इसीलिये कृष्णजी ने दुर्योधन के महल में आहार नहीं लिया पर विदुरजी के घर चले गए और श्रद्धा, भक्ति व प्रेम से मिश्रित साग और केले के छिलके भी खा लिए। राम भी ऋषियों को छोड़कर शबरी के घर गए थे। क्योंकि ऋषि अहं के वशीभूत थे और वहाँ जाने पर उनके अहं का पोषण ही होता, परिणामस्वरूप वह आहार लाभप्रद नहीं रहता। उन्होंने शबरी के जूठे बेर भी खा लिए क्योंकि उसमें भावना की, प्रेम और श्रद्धा की अमृत बूंदें थीं। शुद्ध भाव से परोसा और ग्रहण किया गया आहार अमृत जैसा काम ही करता है। वैज्ञानिकों ने भी शोध की है। एक व्यक्ति घर पहुँचा भोजन के लिए, पर घर का वातावरण क्लेशमय था। वैसे वातावरण में भोजन करने के पश्चात् परीक्षण किया गया तो मालूम हुआ कि खून में कई बीमारियों की स्थितियाँ बन गई थीं। जिस दूसरे व्यक्ति ने आह्लादमय वातावरण में भोजन किया। उसका परीक्षण करने पर दोनों में बहुत अंतर नजर आया। प्रभु ने भी साधकों से आहार-विवेक के लिए कहा है– 'मियमेसणिज्जं' अर्थात परिमित एवं निर्दोष आहार को ग्रहण करने की इच्छा रखे। प्रश्न हो सकता है कि आप (संत) जिन गृहस्थों के घर से आहार लाते हैं उनकी आमदनी का जरिया न जाने कैसा होता है। अतः आवश्यक नहीं कि वह आहार सर्वशुद्ध हो। आहार शुद्ध नहीं तो मन स्वस्थ कैसे रहेगा? इस विषय में पूज्य गुरुदेव नानेश बहुत ही सुन्दर समाधान फरमाते हैं। आप मकान निर्माण का कार्य करवा रहे हैं। एक मजदूर आया और 6/8 घंटे तक कड़ी मेहनत की। ड्यूटी पूरी होने पर आप उसे उसका पारिश्रमिक 50 रुपये प्रदान कर देते हैं। वे रुपये आपने चाहे जैसे भी कमाये हों। पर उस मजदूर ने वे रुपये खून-पसीना बहाकर कमाये हैं। वे उसके लिए खरी कमाई का मेहनताना है। इसी प्रकार यदि साधक भिक्षाचर्या के 42 दोष, 47 या कह दें 106 दोष टालकर अंतर-आत्मा की साक्षी से बुद्धिपूर्वक शुद्ध गवेषणा (खोज) कर जो आहार प्राप्त करता है वह उसकी खरी

कमाई का होगा। सुमुख गाथापति का उल्लेख आता है। उसने द्रव्य, भाव एवं विधि– इन तीन शुद्धियों से आहार बहराया। वह उसके लिए अत्यंत लाभदायक हुआ। द्रव्य शुद्धि दो प्रकार से होती है– द्रव्य से और भाव से। द्रव्य से अर्थात् यदि वस्तु सड़ी-गली या रस चलित हो तो वह आहार साधक ग्रहण न करें। क्योंकि वह आहार शरीर में अनेक कीटाणु पैदा कर देगा और हिंसा का कारण भी बनेगा। कभी ऐसा आहार न आ जाये या कभी तीखा या खट्टा पानी न आ जाये, इसके लिये तो पहले साधु गृहस्थ बहन से ही हाथ में लेकर चख ले और उपयुक्त होने पर ही ग्रहण करें। यदि ऐसा पानी, जो प्यास शमित न करे, रस चलित हो तो न तो वह स्वयं पीयें, न दूसरों को पिलावें बल्कि एकान्त निर्दोष भूमि पर परठ दें। यदि किसी के शरीर में तीखा या खट्टा पानी पीने से विकार न होता हो तो उसे वह पानी जानकारी के साथ दिया जा सकता है।

भोजन के विषय में विदुर नीति में कहा गया है कि गरीब व्यक्ति भोजन करता है वह बिलकुल सही करता है क्योंकि वह तेज भूख लगने पर करता है। इस प्रकार भोजन तेज भूख लगने पर ही किया जाये। अरुचिपूर्वक भोजन करने से वह हितकर नहीं होगा। उसका विसर्जन नहीं होगा और संग्रह होने पर रोग उत्पन्न होगा। गरीब भूख लगने पर भोजन करता है और धनी आदत की पूर्ति में। पाचन शक्ति ठीक हो तो पचा हुआ भोजन शरीर को पुष्ट करेगा। अति आहार होने पर उसके विभागीकरण में ही अधिक समय लग जायेगा, फिर पाचन बराबर नहीं हो पाएगा। इसीलिए कहा गया है कि ऊनोदरी की जाय, भूख से कुछ कम खाया जाय तो उसे कभी वैद्य की जरूरत नहीं पड़ेगी। इस प्रकार स्वास्थ्य की जड़ है खुराक। यदि जड़ सही नहीं, खोखली है तो फूल, पत्तियों, टहनियों को सींचने से क्या होगा? सिंचन तो जड़ का ही करना होगा। पाचन तंत्र सही नहीं तो अंग शिथिल हो जायेंगे क्योंकि ऊर्जा का सही अनुपात में विभाजन नहीं हो पायेगा। भोजन

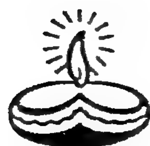
के विवेक में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि आहार कैसा है? यदि आधाकर्मी आहार है, साधु के निमित्त से बना हुआ है यह जानकर भी यदि साधु प्रमोदभाव से उसे ग्रहण करता है तो वह 6 काया की हिंसा से बना हुआ आहार उसके लिये हितकर नहीं होगा और समाधि को भंग करेगा। यह इस बात का प्रतीक है कि तुम्हारे भीतर दया नहीं क्रूरता है और यदि श्रावक भी ऐसा आहार बहराये तो पुण्यबंध तो हो जायेगा पर अल्प आयु बंध का कारण बनेगा। राजा के घर भी जन्म ले लेगा पर आयु स्वल्प मिलेगी। इस प्रकार अपने पदार्थों को बिगाड़ने वाला श्रावक राख में घी मिलाने के समान होगा। घर में यदि रूखी-सूखी रोटी है और भक्ति भाव से वह वही बहराता है, तो वह साधक के लिए काम करेगी। विचार करें– एक महात्मा आहार के लिए पहुँचते हैं। बहिन के यहाँ रूखी रोटी थी। वह उसे चोपड़ने लगती है। महात्मा कहते हैं– बहिन ऐसे ही दे दो। वह कहने लगती है– महाराज म्हने तो रूखी भावे कोनीं। पर महाराज को आयम्बिल के लिए जरूरत थी। वह कहती है– मैं रूखी दूँगी तो मुझे फिर रूखी ही मिलेगी। पर ऐसी बात नहीं है, महत्त्व भावना का है।

गुजरात का प्रसंग है– जीवदया के लिए टीप लिखी जा रही थी, सभी भाई लिखाने लगे। एक बुढ़िया भी आई जिसके पास स्वयं के श्रम से उपार्जित एक रुपया था जो उसकी कुल पूंजी थी। उसने भी चाहा कि उसका रुपया जीवदया में ले लिया जाये। वह भी देने गई पर भाइयों ने इन्कार कर दिया। बुढ़िया की आँखों में आँसू आ गये। आचार्य श्री जवाहर ने यह देख लिया। भाइयों को पूछा– क्या बात है? वे कहने लगे– यह एक रुपया दे रही है अतः मना कर दिया। आचार्य श्री जवाहर ने कहा– जहाँ आपके पास करोड़ों की सम्पत्ति है, आप 1000 रुपये दे रहे हैं, जो आपकी सम्पत्ति के अनुपात में कुछ नहीं है जबकि इसके लिए यह जो एक रुपया है वही उसकी सम्पूर्ण पूँजी है तथा उसका सर्वस्व है। सच्चा दान तो यही है क्योंकि इसके पीछे सच्ची भावना है अतः

इसका यह एक रुपया प्राणियों के लिए वरकत करने वाला होगा। लोग कहते हैं। आज पैसा वरकत नहीं देता, देगा कैसे? कमाई खरी नहीं है। वर्षा का तेज वहाव आता है पर कितनी देर? थोड़ी देर बाद सब कुछ साफ! जो नाला गहरा है वह नहीं भरता। सड़क पर तेज बहाव का पानी इकट्ठा हो जाता है पर जितने वेग से आता है, उतने ही वेग से चला भी जाता है। इस प्रकार आनन-फानन में आया पैसा स्वयं तो जाता ही है, रही-सही खुरचन को भी साथ ले जाता है। वह बरकत कैसे देगा?

आहार कैसे किया जाय, इसके लिए आगमों में विधि वताई गई है– जैसे सर्प बिल में प्रवेश करता है उसी तरह आहार ग्रहण किया जाय। सर्प बिल में सीधा होकर प्रविष्ट होता है, टेढ़ा-मेढ़ा होकर नहीं। वैज्ञानिक कहेंगे– यह भी कोई सिद्धांत है, इस प्रकार बिना चबाये आहार सीधा उतार दिया गया तो आंतें खराब हो जायेंगी। हम सिर्फ शब्दों में उलझ जाते हैं। प्रभु महावीर की विधि यह है– यदि हम कौर को बायीं दाढ़ों पर लेते हैं तो उसी ओर चबायें और दायीं ओर न जाने दें। दायीं ओर लिया है तो वहीं चबायें, बायीं ओर न जाने दें, और फिर गले से उतार लें। यदि हम कभी इधर कभी उधर चबायेंगे तो वह रस जीभ पर पहुँचेगा और हम जायका लेने में लग जायेंगे। दूसरी बात यह भी होगी कि कभी इधर, कभी उधर करने से आहार पूरा चबेगा नहीं क्योंकि कामचोर आदमी ही इधर-उधर करता है। ऐसी स्थिति में जिह्वा रसास्वादन के चक्कर में उलझ जायेगी और आहार पूर्ण चबे बिना ही झट गले से नीचे उतर जायेगा। भली प्रकार चबे बिना आहार द्वारा शरीर में रोगोत्पत्ति होती है अतः हमें भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट सूत्र 'बिलमिव पण्णगभूए' (अणुत्तरो वर्ग 3 ।15) के गूढ़ार्थ को समझना चाहिए और शास्त्र के निहितार्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। 'बिलमिव पण्णगभूए' सूत्र का भावार्थ 'साधक को एक तरफ से आहार ग्रहण करके एक तरफ से ही चबाते हुए उदरस्थ कर लेना चाहिए' यह होगा। और भी एक महत्त्वपूर्ण बात है– यदि

पित्त या अलसर की बीमारी है तो आहार चन्द्र स्वर वाले अर्थात बाईं ओर से चबाया जाय, वायु की बीमारी है तो सूर्य स्वर वाले दाईं ओर से। इसका कारण क्या है? चन्द्र की प्रकृति स्वाभाविक शीतल है और डाक्टर भी पित्त की बीमारी में कहता है कि 2।4 घंटे में ठंडे पदार्थ का सेवन करो। सूर्य की प्रकृति उष्ण है। वायु के प्रभाव को कम करने के लिए गरम आहार का उपयोग किया जाता है। शरीर में भी वायु का दर्द हो तो गरम सेक किया जाता है। जिस भाग से चबाया जायेगा उसी के अनुरूप परिणति होगी और वह औषधि के रूप में रोग का शमन भी करेगी। प्रभु की औषधि लें तो हमारी समाधि बन जायेगी। आयुर्वेद के अनुसार भी जिस क्षेत्र में, जिस मौसम में, जो चीज उत्पन्न होती है वह शरीर के लिए उपयोगी होती है और हमारी समाधि भी बनी रहती है। आप प्रभु महावीर के निर्देशों का पालन करें, एक सप्ताह तक आहार समीक्षण करें और फिर अनुभव करें कि आपके चित्त में कितनी शांति आती है, स्वास्थ्य कितना अच्छा रहता है। प्रयोग करेंगे तो अनुभूति हो जाएगी। इस प्रकार समाधि भाव के लिए प्रभु ने आहार सहाय और निकेय की बात कही है। आहार के विषय में बहुत कुछ कहा गया है परन्तु जितना कुछ भी आप जान पायें उतना ही अपनाने की कोशिश करें। साथ ही, सहाय विवेक और निकेय विवेक को समझें तो समाधि की दिशा में पदन्यास करने में सफलता मिल सकती है।



26. परतों के पार

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख संभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए॥

(उत्तराध्ययन 6।1)

मनुष्य के जिस बाह्य शरीर का हम अवलोकन करते हैं और अन्य पशु-पक्षी जिन शारीरिक अवस्थाओं में हमें दिखाई देते हैं। उन शरीर अवस्थाओं का वास्तविक स्वरूप क्या है? हम जिस तन को देखते हैं, वह वस्तुतः एक परत है और अनेक परतों के पीछे वह स्वरूप छिपा होता है। जिसकी उपलब्धि या खोज हमारी अभीप्सा होती है। उस स्वरूप को पाने से पूर्व इस तन की परत को समझना होगा क्योंकि जिससे पार पाना है, पहले उसे समझना आवश्यक है। हम जानते हैं कि आक्रांत शत्रु यदि युद्ध हेतु तत्पर है तो उसकी शक्ति का परिज्ञान होना आवश्यक है। उस शत्रु वर्ग में कितने प्रवीण लोग हैं तथा उनकी क्या क्षमताएं हैं यह ज्ञात करके ही मुकाबला करने पर सफलता संभव है। इसी प्रकार परतों से पार जाने के लिए उनका सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

पहले यह जान लें कि यह ऊपरी परत आहार से निर्मित है तथा माता-पिता से प्राप्त है। यदि अधिक गहराई में जायें तो ज्ञात होगा कि इसका एक हिस्सा आदिम काल में भी मौजूद था। प्रश्न होगा कि आज से करोड़ों वर्षों पहले इसका अस्तित्व कैसे हो सकता था? समाधान यह होगा कि आपको यह शरीर माता-पिता की बदौलत मिला है। उन्हें वह उनके माता-पिता की बदौलत। यह क्रम पिछली ओर खिसकता चला जायेगा, तब शृंखला करोड़ों-अरबों वर्षों तक चलती चली जायेगी और उस अनादि से जुड़ जायेगी। यदि यह कहें तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आहार से इस तन का संवर्धन होता है। इसीलिये ऋषियों ने इसे **अन्नमय कोष** कहा है। अन्न से इसकी वृद्धि और अभाव में इसका ह्रास

होता है। यदि आहार का पूर्ण अभाव हो जाय तो परत सुरक्षित नहीं रह पायेगी, चूंकि यह आहार पर आधारित होती है। यह प्रथम परत है, इसके बाद और भी परतें हैं। मान लीजिए बाहर से कोई आ रहा है तो दूर से ही उसे मालूम हो जायगा, समता भवन आ गया। वह दीवार को देखकर इसका ज्ञान कर लेता है। यह शरीर भी एक दीवार के रूप में ही है। प्रभु महावीर कैवल्य ज्योति से आलोकित विराजमान हैं और गौतम श्रीचरणों की उपासना कर रहे हैं पर प्रभु कहते हैं– हे गौतम **ण हु जिणो अज्ज दीसइ** अर्थात् तू 'जिन' को नहीं देख रहा है, जिसे देख रहा है वह तो बाहरी परत है। दीवार अनेक प्रकार की होती है। एक पत्थर की संगीन दीवार भी होती है, सीमेंट की, लोहे की और कहीं-कहीं काँच की दीवार भी होती है। पर दीवार आखिर दीवार है। इसके साथ माता-पिता के संस्कार जुड़ते हैं। वैज्ञानिकों ने अनुसंधान करके निष्कर्ष निकाला है कि जिस समय इसके बीज का वपन होता है उसी समय उसमें सारी संभावनाएँ निहित हो जाती हैं। जैसे वर्तमान में गृह निर्माण से पूर्व नक्शा बनाकर फिर उसके आधार पर निर्माण कार्य होता है, उसी प्रकार माता के गर्भ में आहार से शरीर-निर्माण होता है। शास्त्रकारों ने कहा है– आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति आदि की सारी संभावनाएँ शरीर-निर्माण के क्षण में ही निर्मित हो जाती हैं। निर्माण नाम कर्म कारीगर की भाँति शरीर-भवन का निर्माण करता हैं। नक्शे में तो केवल ढाँचे का आकार-प्रकार ही होता है पर आत्मा की इस परत में आकृति का ही नहीं, कौन से स्थान पर कौन से रंग आदि होंगे, इस सारी व्यवस्था का निर्धारण भी हो जाता है। कौन-सा कारीगर है जो आँख की कीकी को काला रंग, शेष भाग को श्वेत और अमुक स्थान पर अमुक अंग की स्थिति को व्यवस्थित करता है? इस कलाकारी से नहीं मालूम कितने मनुष्य रच दिये गये पर समान आकृति वाले कितने हैं? वैज्ञानिकों ने बताया है– चार व्यक्ति एक आकृति वाले मिल सकते हैं पर उनमें कुछ न कुछ भिन्नता रहेगी।

आज विज्ञान की तरक्की हुई है। नये-नये प्रकारों के लिए कई मशीनें बनानी पड़ती हैं पर तन के भिन्न-भिन्न प्रकार ढालने में कितने फार्मूले, कितने नक्शे, कहाँ और कैसे बने, यह पता लगा पाना संभव नहीं है। परत से पार पहुँचने की इच्छा है पर परत का ज्ञान नहीं तो फिर जानने वाले का ज्ञान कैसे हो? यह शरीर माता-पिता से निर्मित है और विज्ञान भी इस बात से सहमत है कि माता-पिता के अनुवांशिक संस्कार संतान में अनुवर्तित होते हैं, उनमें समानता होती है। अपवाद तो सर्वत्र होता है। अपवाद इस रूप में कि माता-पिता निरक्षर ही रह गये और पुत्र बुद्धिमान हो जाये। फिर भी कुछ न कुछ संस्कार बने रहते हैं। जीव प्रथम क्षण में रज-वीर्य का आहार लेता है, यह मकान की नींव की तरह जीवनपर्यन्त किसी न किसी अंश में बरकरार रहता है और शक्ति रूप में शरीर को धारण करके रखता है। यह संस्कारों का अनुवर्तन होता है। इस संदर्भ में एक घटना का विवरण अपेक्षित है। घटना मुम्बई की है।

एक परिवार में सेठ के चार पुत्र थे। तीन विवाहित हो गए। चौथे पुत्र का विवाह करना था। एक दिन सेठानी मुम्बई के ही उपनगर में गई और एक रूपसंपन्न कन्या देखी। सेठानी के पास धन की कोई कमी नहीं थी, मन ही मन उसका चयन कर लिया। सेठजी से सारी बात कह दी। सेठ ने कह दिया कि उस घराने में संबंध उचित नहीं है। सेठानी मानी नहीं– 'तीन पुत्रों का ब्याह आपने अपनी मर्जी से किया है, अबकी बार मैं अपने पसन्द की बहू लाऊँगी।' सेठ कहने लगे– 'पसन्द की भले लाओ पर इसका खानदान शुद्ध नहीं है। इसकी दादी कुएं में कूद कर मरी थी।' सेठानी– 'वाह रे वाह, तो क्या दादी का दंड उसकी पोती को दिया जाये? इसका क्या कसूर है? आखिर त्रिया हठ का सहारा लेकर उसने अपना इष्ट पूर्ण किया, विवाह हो गया। यह सत्य है कि वे बहनें पुरुषों से बड़े-बड़े त्याग, प्रत्याख्यान करवा सकती हैं और धर्म की व्यापक रूप से प्रभावना में सहयोगी भी बन सकती

हैं, अगर ये धार लें तो। अस्तु, शादी के बाद कुछ महीने बीते कि एक दिन देखा गया कि सेठजी उदास बैठे हुए थे। नौकर भोजन हेतु बुलाने गये पर उनका मूड अनुकूल नहीं देख कर लौट आए। किसी को भी उनसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। सेठानी ने सुना तो वह स्वयं पहुँची। आवाज लगाई, पर सेठ ने तो मानो सुना ही नहीं। इशारा किया, थोड़ा स्पर्श किया तो सेठ की जैसे तंद्रा टूटी। क्या बात है, भोजन नहीं करना है? सेठ ने कहा– मुझे भूख नहीं है। भूख लगे कैसे ? भूख का संबंध भी मानसिकता से होता है। सेठानी ने पूछा– भूख क्यों नहीं है ? आपने कुछ खाया भी तो नहीं और उदास क्यों हैं? सेठ ने कहा– कोई खास बात नहीं है। सेठानी ने जोर देकर कहा– यदि आप मुझे धर्मपत्नी समझते हैं तो मुझसे कुछ मत छिपाइये। सत्य बता दीजिए। सेठ ने कहा– क्या करोगी जानकर, नाहक परेशान होना पड़ेगा। सेठानी ने कहा– परेशानी जैसी क्या बात है ? बोझ हल्का होगा। व्यापार में घाटा-नफा चलता रहता है। सेठ ने बताया– पर इस समय भारी घाटा लग गया है इसीलिए उधेड़बुन में लगा हुआ हूँ। कुछ समाधान हो जाये तो अच्छा, पर मार्ग नहीं मिल रहा है। सेठानी ने कहा– ओहो, इतनी-सी बात है! आपका दिया बहुत-सा धन हमारे पास है, वह तिजोरी फिर कब काम आयेगी ? मैं अभी आती हूँ। सेठानी अपने सारे आभूषण लेकर पहुँच गई। सेठ ने कहा– सिर्फ इतना ही है यह और घाटा तो भारी लगा है। सेठानी ने कहा– मैं और प्रयास करती हूँ। कहकर सेठानी बड़ी बहूरानी के पास पहुँची, आप-बीती कह सुनाई। बहू ने कहा– अरे ! चिन्ता जैसी क्या बात ? यह सब आपका ही तो है और सारे आभूषण दे दिए। पर जब सेठ ने कहा कि यह भी पर्याप्त नहीं है तो फिर दूसरे व तीसरे नम्बर की बहू से भी उसने सहर्ष आभूषण प्राप्त कर लिए। पर सेठ ने कहा यह बहुत अंश में उपयोगी है पर गड्ढा अभी भी भरेगा नहीं। सेठानी ने कहा– अभी छोटी बहू बाकी है। वहाँ भी पहुँच गई। जब उसने पहली बार कहा तो वह अनसुना कर गई। दूसरी

बार कहा तो कह दिया– व्यापार में तो ऐसा चलता ही रहता है, क्या फर्क पड़ता है और इधर-उधर की बातों में लगा दिया। सेठानी ने कुछ दबाव दिया तो कहने लगी– दबाव देने की जरूरत नहीं, यदि मेरे आभूषणों में हाथ लगाया तो कुएं में कूदकर प्राण त्याग दूँगी। सेठानी घबराई और पहुँचकर सेठ से कह सुनाया। सेठजी मुस्कराये– घाटा नहीं लगा है पर मैं तो तुम्हारी उस मोह भावना को समझाना चाहता था। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कारों का प्रभाव पड़ता है। घटनाएँ तो कई घटती हैं पर फिर भी आज व्यक्ति संस्कारों की कितनी चिन्ता करता है, यह विचारणीय है। आज तो देखेंगे स्टेटस कैसा है? चारित्र को नहीं, बिल्डिंग कैसी है, यह देखेंगे। घर में सम्पदा कितनी है, सम्भव है उसमें से कुछ मिल जाये।

माता-पिता के संस्कार ही जीवन-निर्माण करते हैं। इस संदर्भ में वनराज चावड़ा के जीवन के दो प्रसंग द्रष्टव्य हैं। एक तो यह कि वे रणक्षेत्र में लड़ रहे थे तभी सिर धड़ से अलग हो गया फिर भी हाथ की तलवार शत्रुओं पर घूमती रही। अंग्रेजों ने देखा– अहो, यह इतना वीर है तो इसके पिता कितने वीर होंगे? उनके पिता की खोज की गई और कहा गया आपको यूरोप चलना होगा। चावड़ा के पिता ने पूछा– किसलिए यूरोप ले जाना चाहते हैं? कहा गया आप वीर पुत्र के पिता हैं। हम चाहते हैं आपसे हमारे यूरोप में भी ऐसे वीर पुत्र जन्में। चावड़ा ने कहा– बहुत अच्छी बात है, मैं चला चलूँगा पर एक बात है कि यदि यूरोप में वीर पुत्र की माता नहीं तो वीर पुत्र का प्रसंग कैसे बनेगा? कहा गया– ऐसी क्या बात है यूरोप में रूपवान स्त्रियाँ भरी पड़ी हैं। चावड़ा के पिता ने कहा– पर वह सुशील स्त्री हो तो ही काम हो सकता है। पूछा गया– वाइफ का यह कौन सा प्रकार है? चावड़ा के पिता ने कहा– सुनिए, एक बार इस वीर पुत्र की माता और मैं रात्रि में शयन कक्ष में थे। मैं अपने आपको संयमित न रख सका और ज्यों ही थोड़ा-सा स्पर्श किया त्योंही उसने कहा आपने दूसरे पुरुष की उपस्थिति

में मेरी इज्जत ले ली। मैंने पूछा– पर यहां कौन है दूसरा पुरुष ? पालने में बालक झूल रहा है। उसने कहा– पहले यह हमारी ओर देख रहा था। जब आपने हरकत की तो इसने मुँह फेर लिया। अब मैं यह कलंकित जीवन जी नहीं सकूँगी और जीभ खींचकर उसने प्राण दे दिए। यदि यूरोप में ऐसी माता हो तो बात बनेगी। ऐसी माताएँ क्या सर्वत्र हो सकती हैं? और बात खत्म हो गई।

माता संस्कारित हो तो संतान भी संस्कारित होती है। माँ बिल्ली देखकर घबरा जाती है तो संतान सिंह का मुकाबला कैसे करेगी? उसमें बचपन से ही भय के संस्कार भर दिए जायें तो बालक साहसी कैसे बनेगा? माता-पिता कितनी आशायें संजोते हैं कि हमारी संतान वीर हो, सुशील हो, संस्कारी हो। आप चाहें तो वैसा निर्माण कर सकते हैं। चाहें तो बालक को संस्कारित और संयमित बना लें और न चाहें तो असंस्कारित रहने दें। आप अपनी संतान को जैसा बनाना चाहते हैं, पहले आप स्वयं वैसे बन जाइये। पुराणों में कथा आती है– मदालसा ने जन्म से ही बालकों को संस्कारित किया और यौवन की दहलीज पर पैर धरते ही वे संन्यास पथ पर बढ़ गये। महाराज ने कहा– महारानी, मैं वृद्ध हो चुका हूँ। कब तक इस राज्य रथ को खींचता रहूँगा। तुमने सभी पुत्रों को साधु बना दिया। उसने कहा राजन्! चिन्ता न करो मैं आपको समय पर ऐसा पुत्र दूँगी जो आपके राज्य का उत्तरदायित्व संभालेगा। और वास्तव में उसने वीर पुत्र को जन्म दिया। राजा ने उस योग्य पुत्र को राज्य सिंहासन सौंपा और स्वयं संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो गया। माता ने एक दिन एक श्लोक को तावीज में बंद करके पुत्र को दिया और कहा कि जब तुम्हें यह संसार जंजाल लगने लगे, कुछ समस्या आ जाए तो उससे दूर होने का मंत्र/उपाय इसमें तुम्हें उपलब्ध हो जायेगा। आज भी लोग चाहते हैं कि किसी मंत्र-तंत्र से उनका दुःख-दर्द दूर हो जाये। इसके लिए वे संतों से कहेंगे– महाराज, कोई मंत्र दे दीजिए। पर यह नहीं सोचते कि वह महामंत्र जो समस्त उलझनों से उबारने

वाला है उस पर उनकी श्रद्धा है या नहीं ? अस्तु, राज्य-सत्ता का उपभोग करते हुए जब एक बार उलझनें आ गई तो उसने खोला वह ताबीज। उसमें एक कागज निकला। जिस पर लिखा था–

सिद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसार माया परिवर्जितोऽसि।
संसार स्वप्नं त्यज मोह निद्रां, मदालसावाचमुवाच पुत्रम्॥

राजा ने श्लोक का गहराई से अध्ययन किया। तुम सिद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन स्वरूप हो, संसार-माया का त्याग करने वाले हो, यह संसार स्वप्न है, मोह निद्रा का त्याग कर। राजा ने इतना पढ़ा और जागृत हो गया, घर-बार छोड़कर साधु बन गया। आप भी कहेंगे– संसार में क्या रखा है ? वैराग्य तो आता है पर क्षणिक। थोड़ी ही देर में वासना की हवा उसे उड़ा देती है। इसका कारण है कि जब हमें परतों का ही ज्ञान नहीं तो चैतन्य देव का ज्ञान कैसे होगा ? समता भवन को जानने के लिए पहले निम्बाहेड़ा फिर उसमें भी आदर्श कॉलोनी को जानना होगा तभी ठिकाने का ज्ञान होगा। ठिकाना भी कहाँ स्थायी रहता है ? व्यक्ति आज यहाँ है तो कल कहाँ होगा, कोई बता सकता है ?

महाभारत की घटना है। न्याय के लिए बड़े ढोल की व्यवस्था थी। उस पर चोट करके न्याय माँगने वाला प्रस्तुत होता था। एक बार धर्मराज कार्य में उलझे हुए थे तभी कोई न्याय की मांग लेकर पहुँचा। धर्मराज ने दरबान से कहा– कह दो, कल आ जाये। बस, भीम तो गदा लेकर उछल-कूद करने लगा। धर्मराज ने पूछा– क्या बात है भीम ? भीम ने कहा– इससे बड़ी क्या खुशी होगी कि आप ने काल पर विजय प्राप्त कर ली है। आप निश्चिन्त हैं कि कल तक जिन्दा रहेंगे। हम भी कितनी आशाएं संजोकर रखते हैं। आशाओं की डोर के सहारे झूल रहे हैं। पर धागा टूट गया तो... ? भीम का उद्घोष सुनकर धर्मराज को भूल का एहसास हुआ। अरे, उसे बुलाओ। अभी निपटारा किए देता हूँ। यह तो महाभारत की घटना है। हम जिस शरीर की बात कर रहे हैं वह भोजन की परत

है। इसमें बहुत-सी संभावनाएँ हैं। पर सोचें कि कभी हमने भीतर झांकने की कोशिश की या नहीं ? दीवार को पत्थर की तरह संगीन तो नहीं बना दिया है? यदि ऐसा है तो फिर भीतर की हलचल को कैसे जान पाएँगे? भोजन भी दो प्रकार का है– (1) रुग्ण और (2) स्वस्थ। रुग्ण भोजन दीवार को मजबूती देगा। कवि आनन्दघनजी भी कह रहे हैं–

त्रिविध सकल तनुधरगत आतमा,
बहिरातम धुरि भेद सुज्ञानी।

बहिरात्मा धुरी का भेद नहीं करती। जैसे चक्र धुरी के चारों ओर घूमता है, चक्की कीली के आधार पर घूमती है, वैसे ही हमारी आत्मा भी अनादि काल से घूम रही है। इस प्रकार हम कहीं परत को मजबूत तो नहीं कर रहे हैं ? कितनी मजबूती से राजाओं के किले बनाये जाते थे, बड़ी-बड़ी हवेलियाँ बनाई गई हैं पर आज उनमें सफाई तक का प्रबंध नहीं हो पा रहा है। किले बनाने वाले चले गए। एक समय था जब वे वैभव का प्रतीक माने जाते थे पर आज उनकी सफाई के भी लाले पड़ रहे हैं। अगर हम यह सोचें कि हमारा किला तो बहुत संगीन है तो यह वैसी ही बात हुई कि रात्रि की ओस-बूंद सुबह घास पर मोती की भाँति इठलाये और सोचे कि मैं तो कीमती मोती हूँ। हवा का एक झोंका उसे तहत-नहस कर देगा। कवि कह रहा है—

मौत की हवा का झोंका एक आयेगा।
जिंदगी का वृक्ष तेरा टूट जायेगा॥

भरोसे में बैठे रहे तो कहीं ठगे जा सकते हैं। सजग वही है जो समय रहते मकान से रत्न निकाल ले। शास्त्रकार बताते हैं कि साधक जब देख लेते हैं कि मकान (शरीर) जीर्ण हो रहा है तो फिर उसकी सार-सम्हाल नहीं करते, अन्न-पानी का भोग नहीं चढ़ाते, संथारा कर लेते। मैं ही तुम्हें विदा कर दूँ, मैंने नहीं किया तो तुम मुझे कर दोगे। पर जब वह विदा करेगा आप बेसुध होंगे।

आप विदाई देंगे तो आप होश में रहेंगे। ऐसा ही प्रयाण श्रेष्ठ है, महोत्सव रूप है। आज व्यक्ति जन्म- महोत्सव मनाता है पर मृत्यु-महोत्सव जन्म पर कुठाराघात करता है जो जन्मों की शृंखला को तोड़ सकता है जबकि जन्म-उत्सव उस परम्परा की वृद्धि करता है।

शास्त्रकारों ने कहा है **जावंतऽविज्जा पुरिसा**....अविद्या के कारण पुरुष भीतर देख नहीं पाता। हमें परत को काँच की दीवार बनाना है, हम पारदर्शी बन जायें। यदि हम भीतर की हलचल देखने में समर्थ हो गए तो बाहर प्रतिबिम्ब पड़ेगा। पारदर्शी बने बिना भीतर का तत्त्व नहीं देखा जा सकेगा! पारदर्शिता का संबंध आहार से और बुद्धि की शुद्धि से होता है। सात्विक आहार बुद्धिवर्धक होता है व क्षयोपशम को भी बढ़ाता है। विज्ञान की शोध के अनुसार शराब की पहुँच सीधी बुद्धि तक नहीं होती। शराब का प्रभाव पीनियल ग्रंथि पर पड़ता है। पीनियल ग्रंथि से स्राव बहता रहता है, शराब पीने से उसकी क्रियाओं में गड़बड़ी होती है। ग्रंथि की गड़बड़ी का असर बुद्धि पर पड़ता है और व्यक्ति का मस्तिष्क उसके नियंत्रण में नहीं रह पाता। इसके विपरीत ब्राह्मी आदि से पीनियल ग्रंथि को सहारा मिलता है तो बुद्धि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। अन्यान्य संस्कारों का भी अन्वेषण हो रहा है। स्त्री और पुरुष की पर्याय का परिवर्तन भी संभव है। आहार के द्वारा जो हारमोन्स बनते हैं, वे निर्माण क्रिया के लिए उपयोगी होते हैं। आहार द्वारा निर्मित इस परत को समझें। मांसाहार प्रोटीन की बहुलता वाला होने से हमारी परत को और बुद्धि को भी स्थूल कर देता है। पहली परत को समझें, फिर अन्य परतों को भी समझा जा सकेगा और फिर हम उस चैतन्य देव का यहाँ बैठे-बैठे अनुभव कर सकेंगे जिसे अन्तरात्मा की संज्ञा दी गई है। परन्तु यह सब होगा तब जब हमारा आहार ग्रहण और रहन-सहन संयमित हो। साधक के लिए कहा है– **हत्थ संजए, पाय संजए,**....! कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है। हाथ-पाँव आदि का संयम होगा तो ज्ञान का भी परिवर्धन होगा। परन्तु जब तक अविद्या रहेगी तब तक पथ प्रशस्त नहीं

होगा। अविद्या दुःखों की जननी है। वहिरात्मा ने धुरी को पकड़ रखा है, भीतर प्रविष्ट नहीं होने देती। धुरी भेदन के लिए पुरुपार्थ आवश्यक है। मकान के बाहर की चकाचौंध में ना उलझें, भीतर की चिन्ता करें। भीतर का ज्ञान नहीं तो सर्वत्र अंधेरा ही नजर आयेगा। हम प्रकाश में आयें। परत रूपी वादलों को रत्नत्रय से, संयम के झोंके से तितर-वितर कर दें और अव तक की भटकन को विश्राम दें। अब भी यदि हम संभल जायें तो कैवल्य आलोक से आलोकित होकर परम ज्योति में विलीन हो पायेंगे।



27. सहाय मिच्छेणिउणत्थ बुद्धिं

जीवन को सरिता की उपमा दी गई है, क्योंकि जीवन सरिता की भाँति ही गतिशील होता है। यद्यपि ऐसी सरिताएँ भी हैं जो वर्षा ऋतु अथवा वर्ष के विशेष समय में ही प्रवहमान रहती हैं तथा शेष समय में सूख जाती हैं परन्तु वे जीवन की पर्याय नहीं बन सकतीं। जीवन गति का प्रतीक है। जीवन निरंतर गतिशील रहता है। आत्मा शब्द अत् धातु से निष्पन्न हुआ है– **अतति सततं गच्छति** अर्थात् जो सतत गति करता है वह आत्मा है, जो ज्ञान, दर्शन रूप पर्यायों में अथवा नरक आदि में गमन करने वाला है। कभी हम सोच लेते हैं कि शरीर ही जीवन है। पर शरीर गतिशील नहीं है, उसके भीतर रहने वाला गतिशील तत्त्व आत्मा ही जीवन है। उसकी अनुपस्थिति में जीवन नहीं रहता। जीवन गति का प्रतीक है और व्यक्ति गतिशील होता है क्योंकि आत्मा का यह भी एक स्वभाव है। संसारी प्राणी ही नहीं, सिद्धात्मा में भी निरन्तर गति होती रहती है। आप विचार करेंगे कि सिद्ध भगवान गतिशील कैसे? वे तो अटल अवगाहना में अवस्थित हैं, उन्हें कोई हिला नहीं सकता, प्रकम्पित नहीं कर सकता, फिर उनमें गति कहाँ से संभव हुई? गति का तात्पर्य तो हलन-चलन से होता है, जिसका सिद्धों में अभाव होता है। उत्तर होगा– सिद्ध भगवान के आत्म प्रदेशों में जीवन का स्वरूप विद्यमान होता है– उनमें ज्ञान, दर्शन की पर्याय रूप गति होती है। द्रव्य का स्वभाव बतलाते हुए कहा गया है– **उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्** द्रव्य में उत्पत्ति है, विनाश भी है। जहाँ उत्पादन है, वहाँ विनाश भी अवश्यंभावी है। सिद्धों के आत्मप्रदेश हिलते नहीं पर पर्यायों का परिणमन, उत्पाद और व्यय का स्वरूप उनमें विद्यमान होता है। यदि ये नहीं हों तो द्रव्य की परिभाषा गड़बड़ हो जायेगी और सिद्धों का स्वरूप कूटस्थ नित्य हो जायेगा। उस अवस्था में परिणमन कैसे संभव होगा? परिणमन के अभाव में वस्तु अवस्तु हो जायेगी। अतः वस्तु का स्वरूप

परिणमनशील ही होता है। शास्त्रकारों ने पुद्गल में भी परिणमन होना माना है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि में भी परिणमन होता है। प्रश्न होगा– ये सभी साथ में रहे हुए हैं, इनमें परिणमन की प्रक्रिया कैसे बन पाती होगी ? इसे हम इस रूप में समझ सकते हैं– एक घड़े को रखा जाता है। उसमें जितना आकाश समाया हुआ है वह घटाकाश कहलाता है। पाटे के द्वारा जो क्षेत्र अवगाहित है वह उसका आकाश क्षेत्र कहा जाता है। इस परिणमन के आधारभूत वस्तु की व्यवस्था रही हुई है। यह परिणमन स्वाभाविक है। सिद्धों में भी स्वाभाविक परिणमन होता है। पर संसारी आत्मा में परिणमन स्वाभाविक भी होता है और पर-सापेक्ष भी। एक व्यक्ति शांत बैठा हुआ है, किसी ने दो/चार गालियाँ सुनाईं तो क्या वह दीवाल की तरह बैठा रहेगा ? संभव है ऊपर से आक्रोश न दिखाये, साधक है तो उसे ग्रहण ही नहीं करे, पर बहुतांश में उसमें परिणमन होता है, प्रतिक्रिया होती है। दूसरे के कथन से प्रक्रिया बनी– यह पर-सापेक्ष परिणमन है। मान लीजिए– उस रूप में परिणमन नहीं हो, औदायिक भाव से भी पर-सापेक्ष परिणमन होता है। एक सुन्दर मनोज्ञ वस्तु सामने आई। हमारा उस ओर ध्यान आकर्षित हुआ। यह पर-सापेक्ष परिणमन है। एक महात्मा जंगल में कुटीर (आश्रम) बनाकर जप-तप में लीन थे। इन्द्र घबराने लगे– यदि निरन्तर तप चालू रहा तो कहीं ऐसा न हो कि वह यहाँ पहुँचकर किसी इन्द्र का आसन छीन ले। यद्यपि इन्द्र के रहते यह हो नहीं सकता, पर विचार आ गया। उन्होंने सोचा– इसकी तप साधना भंग करनी होगी। पर यह भी भय था कि महात्मा कहीं कुपित होकर शाप न दे दें। अतः ऐसा उपाय किया जाय कि शाप भी न मिले और काम भी हो जाये। उन्होंने क्षत्रिय का रूप बनाया और एक तलवार, जिसकी मूठ रत्नों से जड़ी हुई थी, लेकर अपनी सुन्दर साज-सज्जा में महात्मा के पास पहुँचे और बोले– 'भंते ! आप तपस्वी हैं। मैं कार्यवश बाहर जा रहा हूँ, अपनी यह तलवार आपके पास रखना चाहता हूँ।' महात्मा ने उस तलवार को रख लिया। अब महात्मा

उसे हर समय अपने पास में ही रखते। डर था कि कहीं कोई ले न जाये। पहले जब वे महात्माजी जंगल में निकलते थे, तब सभी प्राणी मित्रवत् उनके पास आ जाते थे। पर अब तलवार लेकर घूमते थे अतः कोई पशु-पक्षी पास में नहीं फटकता था। धीरे-धीरे महात्मा की भावना में क्रूरता भी उत्पन्न होने लगी और एक दिन तो म्यान से तलवार निकाल कर चलाने की प्रक्रिया भी कर ली। यह था सहचारी भाव-संसर्ग का प्रभाव।

पूज्य गुरुदेव फरमाया करते हैं– एक रामामूर्ति पहलवान था जो बहुत बलवान था। वह चलती गाड़ी को रोक लेता था। उसने कहा था– मुझे एक 5 वर्ष का बालक दे दो, मैं तुम्हें दूसरा रामामूर्ति पहलवान सौंप दूँगा। एक तोता जो निरन्तर महात्मा के पास रहता है, उनके संसर्ग, सान्निध्य से सूक्तियों का उच्चारण करने लग जाता है जबकि उसी का सहोदर दूसरा तोता, जो डाकुओं के संसर्ग में रहता है वह, कोई आये तो मारो-काटो के शब्द बोलने लगता है। इसलिए प्रभु ने समाधि के इच्छुक साधक से कहा है– **'सहायमिच्छे णिउणत्थ बुद्धिं'**। तुम्हारी यात्रा में सहयोगी की अपेक्षा है। वह सहयोगी निपुणार्थ बुद्धिवाला हो। दो से कम साधुओं और तीन से कम साध्वियों का कल्प नहीं है। अकेला साधु है तो क्या भरोसा ? क्या कर रहा है ? क्या नहीं ? शास्त्रों में कहा गया है– साधु एक-दूसरे की दृष्टि में बैठें। यह नहीं कि वह किसी कोने में सो रहा है और दूसरा कहीं और...। इसके पीछे साधु जीवन की सुरक्षा का भाव निहित है। पर आज तर्क का युग है। कभी कोई ऐसा तर्क कर लेता है कि भगवान का विश्वास साधु पर है या श्रावकों पर? आपसे पूछ लूँ। किस पर है? विचार होगा, क्या कहें। विकल्प होंगे– श्रावक पर विश्वास क्यों होगा? गणधर गौतम तो सदा पास में रहते थे। यदि साधु पर विश्वास है तो श्रावक पर क्यों नहीं? तर्क में दोनों बातें हो सकती हैं। मान लिया जाय कि श्रावकों पर विश्वास था, पर एक श्रावक, जिसने जीवनपर्यन्त के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया है, वह घर पर रह सकता है,

सो सकता है, उसके लिए निषेध नहीं कि घर पर सपत्नी न रहे। पर साधु के स्थान पर रात्रि में बहिन नहीं रह सकती। श्रावक के लिये रात्रि चौविहार का व्रत है, पर उसके घर पर रात्रि में मटकी, टंकी भरी रह सकती है पर साधु के स्थान पर रात्रि में पानी नहीं रह सकता। साधु को रात्रि में प्यास लगे और कहीं पी न ले। क्या भगवान का विश्वास श्रावकों पर ही था कि मेरे श्रावक अपने व्रत में हिल नहीं सकते? तो क्या साधु हिल सकते हैं? यथार्थ चिन्तन करना होगा। पूर्व में युद्ध करने के लिए जब सेना जाती थी तो सैनिकों को ऊपर कवच (लोहे या अन्य धातु का बना बख्तर) पहनाया जाता था और साथ में उन्हें ढाल, तलवार, बर्छी, कटार आदि से भी लैस किया जाता था। तो क्या सैनिकों पर विश्वास नहीं होता था? लेकिन यह अविश्वास नहीं था। जब वह रणभूमि में जा रहा है, जहाँ उसे खतरों से सामना करना पड़ता है, तो सुरक्षा के लिए कवच, ढालादि आवश्यक हैं। इसी प्रकार साधु को भी कर्म रूपी शत्रुओं से युद्ध के लिए संयम समर में प्रतिज्ञा रूपी ढाल व कवच से लैस किया जाता है ताकि सम्मुख आने वाले किसी भी आकर्षण की उसके हृदय में प्रतिक्रिया न हो, बाहर से ही उसका प्रतिकार हो जावे। साधु की विशेष प्रतिज्ञा रूपी कवच से सुरक्षा की जाती है, श्रावक की नहीं क्योंकि साधु ही 3 करण 3 योग से नियमों में आबद्ध होता है। एक खेती घास की होती है, उसके चारों ओर बाड़ की जरूरत नहीं होती पर यदि अंगूर की खेती के चारों ओर बाड़ लगाई जाती है तो उसका प्रयोजन अंगूर की फसल की सुरक्षा ही है।

प्रभु ने समाधि के लिए सूत्र दिया है– 'सहाय मिच्छे णिउणत्थ बुद्धिं' और कहा है– खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं, कीडं च वज्जए।' अर्थात् क्षुद्र बुद्धि ओछी हरकत वाले के साथ हँसी-मजाक भी नहीं करना चाहिए। यदि उसका साथ हो गया तो स्वयं के साथ वह आप को भी ले डूबेगा। एक प्रसंग है। यात्रा के लिए एक पंडित जा रहा था। साथ में एक मूर्ख हो गया। सड़क पर अचानक पंडित

की दृष्टि पड़ी। उसने कहा अहा– कितना सुंदर फूल है पर सुगंध नहीं, यह जवासा है। पर मूर्ख ने कहा– क्या कह रहे हैं आप, यह तो गुलाब है। पंडित ने फिर कहा कि यह जवासा ही है, पर मूर्ख ने कहा– क्या बकते हैं, मैंने कह दिया कि गुलाब है, फिर भी नहीं मानते तो लो, और उसने लाठी से प्रहार कर दिया। बेचारे पंडितजी मन में कहने लगे 'मूर्खों से भगवान बचाये।' क्षुद्र बुद्धि का साथ हो गया तो हर समय मति सशंक रहेगी। प्रवीण पुरुष साथ में है तो समाधान मिलेगा।

अकबर बादशाह के समय उनका प्रधान वजीर बीरबल एक हिन्दू था। मुसलमानों को उससे चिढ़ थी। अरे, हमारी सल्तनत मुस्लिम है और वजीर हिन्दू– यह तो सरासर हमारी तौहीन है। यह तो काफिर है। इस प्रकार तो राज्य का नाश हो जायेगा। कुछ लोग इकट्ठे होकर मुल्ला के पास पहुँचे और उन्हें भी भड़काया। बात सुनकर मुल्ला ने पूछा– बादशाह की चाबी कहाँ है ? पता चला कि अकबर की चाबी तो बेगम के पास है। पहुँच गये बेगम के पास और उसे खूब चढ़ाया, प्रशंसा के पुल बाँधे और फिर अपनी बात कहने लगे– बादशाह का वजीर हिन्दू है तो संचालन भी वैसा ही होता है। फिर मुसलमान के हाथ में राज्य-सत्ता होने से क्या फायदा? बेगम साहिबा आपके भाई शेख साहब बहुत काबिल हैं, वजीर तो उन्हें ही बनाया जाना चाहिए। बेगम ने कहा– आपकी बात ठीक है, मैं प्रयास करूंगी। जब अकबर बादशाह महल में पहुँचे तो त्रिया-चरित्र कर हाव-भाव से बेगम ने उन्हें रिझा लिया। बादशाह व्यवहार समझ गये और बोले– लगता है, तुम हमसे कुछ चाहती हो। हम बहुत खुश हैं, जो चाहती हो मांग लो। बेगम ने कहा– अच्छी तरह सोच लीजिए। अकबर ने आश्वस्त किया– हाँ मैंने सोच लिया है। बेगम ने अपनी बात कह दी– मेरा भाई शेख काबिल है, उसे वजीर बनाया जाना चाहिए। हिन्दू वजीर तो सल्तनत के लिए शोभनीय भी नहीं है। बादशाह ने कहा– वाकई तुम्हारी बात काबिले तारीफ़ है। मैं कल ही यह कार्य कर दूँगा। मैंने भूल

कर दी है। प्रातःकाल राजा ने पुराने वजीर को एक महीने का अवकाश दे दिया और शेख को वजीर का ओहदा दे दिया। पुराने वजीर ने शेख को हिसाब-किताब समझा दिया और अवकाश पर चला गया। अकबर ने सोचा, एक महीने में इनकी काबिलियत भी ज़ात हो जायेगी। उसने नये वजीर की परीक्षा लेने की सोची। उन्होंने नये वजीर को आदेश दिया— रोम के बादशाह के पास जाकर तुम्हें यह कार्य करना है और सफल होकर लौटना है। शेख ने तैयारी कर ली, बड़ी संजीदगी के साथ पहुँचे। पर काम करने का तजरबा था नहीं। शेख शेखी में रह गए, रोम के बादशाह से बातचीत के तौर-तरीके भी मालूम नहीं थे। काम तो दूर ही रह गया, उलटे उन्हें अपमानित कर दिया गया। वे निष्कासित होकर लौट आये। अकबर से कहा— मुझे कहाँ फँसा दिया। मैं आराम से रह रहा था। मुझे नहीं चाहिए यह ओहदा। बादशाह ने कहा— यह बात अपनी बहिन से कहो। बहिन ने कहा— मुझे तो मुल्ला ने कहा था, मैं क्या जानूं। मुल्ला को बुलाया गया तो उन्होंने कहा— भई, जब ये नहीं चाहते तो हम क्या करें? हमने तो अपनी बात रख दी। अब बीरबल को बुलाया गया और उन्हें भी रोम के बादशाह के पास व्यावसायिक संबंध सुलझाने को प्रेषित किया गया। वे अपने लवाज़मे के साथ पहुँचे। रोम के बादशाह को ज्ञात हुआ कि अकबर का वजीर आया है। उसने विचार किया, अभी तो कुछ दिन पहले एक वजीर आया था, ये अब फिर कौन आ गये? इनकी भी परीक्षा ले ली जाय, देखें कितने पानी में हैं। उसने एक चाल चली। एक समान 11 सिंहासन मंगवाये गये और अपने हम शक्ल 10 आदमियों को, जिन्हें राजा के ही समान पोशाक पहनाई गई थी, सिंहासनारूढ़ कर दिया गया। देखें, यह वजीर बादशाह को कैसे पहचानता है? पहला आने वाला तो चक्कर में पड़ ही जायेगा। पर यह क्या! वजीर तो सीधा बादशाह के पास पहुँचा और सलाम कर इकरार पेश किये। बादशाह विस्मित हुआ। पूछा— तुमने हमें कैसे पहचाना? उसने कहा— हुजूर—बुद्धी का

लाल छिपा नहीं रहता। आपने गुलामों को सुन्दर पोशाक पह
दी, पर कागज के फूलों में खुशबू नहीं मिल सकती। कागज
पानी की बूंद उसे गलाने वाली बनती है। कागज की नाव तिर
नहीं, डुबाने वाली ही होती है। यही हालत इनकी है। सुंदर सिंहास
तो मिल गया पर चंचलता नहीं गई। इनमें वह गांभीर्य नहीं आ
जो राजा में होता है। ये तो सिंहासन पाकर फूलकर कुप्पे हो
हैं। क्षुद्र बुद्धि वाले को सम्मान दिया जाय तो वे पचा नहीं पा
ज्योंही मैंने प्रवेश किया इनकी चंचल निगाहें टेढ़ी होकर मु
निहारने लगीं। आप अपनी स्थिति में रहे, अतः मुझे समझने
देर नहीं लगी कि असली बादशाह कौन है ? रोम के बादशाह
सोचा भारत में जहां ऐसा योग्य प्रधान है, वहाँ राज्य व्यवस्था अव
सुन्दर एवं कल्याणकारी होगी ही। आदर-सत्कार के साथ उन्हें
भारत के बादशाह के लिए सौगात भी भेजी। व्यापारिक संब
भी स्थापित हो गए। अकबर के पास वजीर सौगात लेकर पहुंच
सारी बात कह सुनाई और साथ में एक बात यह भी बता दी
रोम के बादशाह ने कहा कि कुछ दिन पूर्व एक वजीर आया
पर वह तो निरा बौड़म और अनुभवहीन था। इस पर मैंने उ
दिया कि आप भूलकर गए हुजूर, वे बहुत बुद्धिमान थे। वे तो आपक
परीक्षा के लिए आये थे। उन्होंने जानना चाहा था कि आप कै
हैं? आज व्यक्ति सम्मान पाकर दूसरों की तौहीन करने लग
है। देखा गया है कि जब एक पंडित के सामने दूसरे विद्वान क
प्रशंसा की जाती है तब वह दूसरे के लिए कहता है– अरे ! व
तो निरा मूर्ख है। किन्तु चतुर बीरबल ने रोम के बादशाह क
आलोचना कितनी कुशलता से कर दी। रोम के बादशाह को एहसा
भी नहीं हो पाया कि उस पर अप्रत्यक्ष व्यंग्य किया गया था। घट
को बेगम, मुल्ला, शेख सभी के सामने प्रस्तुत किया गया– स
बहुत प्रसन्न हुए और बीरबल की बुद्धिमत्ता की खुले दिल से प्रशं
करने लगे। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि सहायक निपु
अर्थ बुद्धिवाला होना चाहिए।

भगवान ने इसीलिए योग्य सहायक की बात कही है। राजा के लिए मंत्री प्रधान सहायक है। यदि यह सहायक सही नहीं है तो परामर्श सही नहीं मिलेगा और अनर्थ हो जायेगा। महाकवि तुलसी ने रामचरितमानस में लिखा है—

'मंत्री, गुरु और वैद्य जो प्रिय बोलहि भय आस।
राज, धर्म, तन, तीन कर होइ बेगही नास॥'

राजा कभी आवेश व भावुकता में सही चिन्तन नहीं कर पाता तो उस समय उसका प्रधान परिस्थितियों पर काबू रखकर अनिष्ट रोकता है। साधक के लिए भी **णिउणत्थ बुद्धिं** निपुण अर्थ बुद्धि वाले सहायक का निर्देश किया है। निपुण अर्थ बुद्धि अर्थात् जिसकी मति अर्थ-संपन्न हो, ऐसे सहायक की आवश्यकता बताई गई है। अर्थ-संपन्न आगम के शब्दों में ही नहीं अपितु अर्थ में भी निपुण हो। ऐसा साधक सहायक होगा तो भटकते कदमों को स्थिर कर देगा। मन भी साधना में सहयोगी होता है, इसे भी सन्मति मिल जाए तो **पण्णा समिक्खए धम्मं** धर्म मार्ग में सन्मति के सहयोग से गति हो सकेगी। प्रज्ञा द्वारा धर्म की समीक्षा की जा सकेगी। सुमति ही धर्म की सहायिका है। निपुण बुद्धि- सहायक जीवन का आमूलचूल परिवर्तन कर उसे समाधि से ओत-प्रोत कर देगा। सच्चा मित्र वही है जो हमारे सुख-दुःख में सहयोगी बने। यह नहीं कि सुख में तो साथ रहे और दुःख में कन्नी काट ले। पर किसे सहयोगी मानें? काया भी सहयोगी नहीं बनेगी। फिर भी जब तक शरीर है, साधना कर लें। मित्र के सहयोग से पाथेय प्राप्त कर लें।

एक बात याद आ रही है। श्री प्रमोद मुनिजी म.सा. पंजाब सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। आचार्यश्री आत्मारामजी म.सा. के शिष्य बने। लगभग 20 वर्ष की वय में दीक्षित होकर 80 वर्ष तक संयम का पालन किया। सम्प्रदाय में एक आचार्य के नेतृत्व में शिक्षा-दीक्षा [illegible]

[illegible] नहीं सकता। आपने गुलामों को सुन्दर पोशाक पहना [illegible] फूलों में खुशबू नहीं मिल सकती। कागज पर [illegible] पानी बनती है। कागज की नाव तिराने [illegible] पानी ही होती है। यही हालत इनकी है। सुंदर सिंहासन [illegible] योग्यता नहीं आई। इनमें वह गांभीर्य नहीं आया [illegible] सिंहासन पाकर फूलकर कुप्पे हो रहे [illegible] सम्मान दिया जाय तो वे पचा नहीं पाते।

[illegible] उनकी चंचल निगाहें टेढ़ी होकर मुझे [illegible] स्थिति में रहे, अतः मुझे समझने में [illegible] कि असली बादशाह कौन है? रोम के बादशाह ने [illegible] प्रभाव है, यहाँ राज्य व्यवस्था अवश्य [illegible] होनी ही। आदर-सत्कार के साथ उन्होंने [illegible] के लिए सामान भी भेजा। व्यापारिक संबंध [illegible] के पास सजीव सामान लेकर पहुंचा। [illegible] साथ में एक बात यह भी बता दी कि [illegible] कि कुछ दिन पूर्व एक वजीर आया था [illegible] अनुभवहीन था। उस पर मेरी उदार [illegible] बहुत बुद्धिमान थे। वे तो आपकी [illegible] आशा था कि आप कैसे [illegible] पाकर मूर्खों की तौहीन करने लगता [illegible] जाकर दूसरे निजाम की [illegible] के लिए कहता है– अरे! यह [illegible] रोम के बादशाह की [illegible] रोम के बादशाह को एहसास [illegible] किया गया था। सचमुच [illegible] दिया गया– सच [illegible] की प्रशंसा [illegible]

भगवान ने इसीलिए योग्य सहायक की बात कही है। राजा के लिए मंत्री प्रधान सहायक है। यदि यह सहायक सही नहीं है तो परामर्श सही नहीं मिलेगा और अनर्थ हो जायेगा। महाकवि तुलसी ने रामचरितमानस में लिखा है—

'मंत्री, गुरु और वैद्य जो प्रिय बोलहि भय आस।
राज, धर्म, तन, तीन कर होइ बेगहीं नास॥'

राजा कभी आवेश व भावुकता में सही चिन्तन नहीं कर पाता तो उस समय उसका प्रधान परिस्थितियों पर काबू रखकर अनिष्ट रोकता है। साधक के लिए भी **णिउणत्थ बुद्धिं** निपुण अर्थ बुद्धि वाले सहायक का निर्देश किया है। निपुण अर्थ बुद्धि अर्थात् जिसकी मति अर्थ-संपन्न हो, ऐसे सहायक की आवश्यकता बताई गई है। अर्थ-संपन्न आगम के शब्दों में ही नहीं अपितु अर्थ में भी निपुण हो। ऐसा साधक सहायक होगा तो भटकते कदमों को स्थिर कर देगा। मन भी साधना में सहयोगी होता है, इसे भी सन्मति मिल जाए तो **पण्णा समिक्खए धम्मं** धर्म मार्ग में सन्मति के सहयोग से गति हो सकेगी। प्रज्ञा द्वारा धर्म की समीक्षा की जा सकेगी। सुमति ही धर्म की सहायिका है। निपुण बुद्धि- सहायक जीवन का आमूलचूल परिवर्तन कर उसे समाधि से ओत-प्रोत कर देगा। सच्चा मित्र वही है जो हमारे सुख-दुःख में सहयोगी बने। यह नहीं कि सुख में तो साथ रहे और दुःख में कन्नी काट ले। पर किसे सहयोगी मानें? काया भी सहयोगी नहीं बनेगी। फिर भी जब तक शरीर है, साधना कर लें। मित्र के सहयोग से पाथेय प्राप्त कर लें।

एक बात याद आ रही है। श्री प्रमोद मुनिजी म.सा. पंजाब सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। आचार्यश्री आत्मारामजी म.सा. के शिष्य बने। लगभग 20 वर्ष की वय में दीक्षित होकर 50 वर्ष तक संयम का पालन किया। संप्रदाय में एक आचार्य के नेतृत्व में शिक्षा-दीक्षा की परम्परा न होने से वृद्धावस्था में सेवा की सम्यक् व्यवस्था

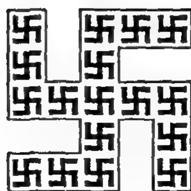
नहीं थी। पृथक्-पृथक् शिष्य परंपरा होने से किसी के शिष्य होते, किसी के नहीं होते। उस स्थिति में जिसके शिष्य होते उनकी सेवा आदि होती अन्यथा सेवा की व्यवस्था जम पाना कठिन हो जाता।

श्री प्रमोद मुनिजी के एक शिष्य हुआ। पर वह टिक नहीं पाया। अब सेवा की विकट समस्या हो गई। अशक्त शरीर होने से सहायक की आवश्यकता महसूस हुई। अव्यवस्था के दौर में कौन गुरुभाई सेवा करें? सेवा-धर्म परम गहन है, विरला ही इसका निर्वाह कर सकता है। व्यवस्था की कमी के कारण उनका मस्तिष्क भी सही चिन्तन में समर्थ नहीं रहा।

वे गर्ग (अग्रवाल) जाति के सम्पन्न परिवार से दीक्षित थे। परिवार में सूचित किया गया। पारिवारिक जन उपस्थित हुए। वातावरण को देखकर उन्हें घर ले गये! ज्यों ही थाली-कटोरी में भोजन सामने आया, 50 वर्षों के साधुत्व के संस्कार, जो मन में रम चुके थे, जागृत हो गये। उनकी आत्मा तड़प उठी। उन्होंने साफ-साफ कह दिया– यह सब मुझसे नहीं हो सकेगा। परिजनों ने कहा– यहाँ रहो तो हम सेवा हेतु तैयार हैं परन्तु आपके साथ हम तो साधु बनने से रहे। परिजनों ने प्रयास किये, खोजबीन की कि कहीं उनकी व्यवस्था जम जाए।

आचार्य प्रवर श्री नानेश के सन् 1976 के नोखा मण्डी चातुर्मास पश्चात् परिजन उपस्थित हुए। उनकी संयमी भावनाओं से अवगत कराया, साथ ही कहा कि वे आप सन्तों की सेवा नहीं कर सकते, आप सन्तों को उनकी सेवा करनी पड़ेगी। आचार्य प्रवर ने फरमाया– अगर विहार में साथ रह सकते हों तो मैं सेवा कर सकता हूँ। उनसे प्रत्यक्षतः वार्ता करने पर ही सारी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। शारीरिक दृष्टि से अक्षम एवं अशक्त प्रमोद मुनि को आचार्य प्रवर की सेवा में लाया गया। वार्ता के पश्चात कर्मठ सेवा-भावी धायमातृपद-विभूषित श्री इन्द्रचन्दजी म.सा. के पास रखा गया। अभी तक उनका सेवा कार्य गृहस्थ ही करते

थे। उनकी संयम के प्रति अभिरूचि के साथ सारी स्थितियों को देखकर कर्मठ सेवाभावीजी ने पूज्य गुरुदेव से निवेदन किया– इनकी भावना प्रगाढ़ है संयम की सुरक्षा हेतु, संयमी भावों में सहयोग देना चाहिए। संयोग से अस्वस्थता के कारण गुरुदेव गंगाशहर पधारे। वहीं उनकी नई दीक्षा सम्पन्न हुई। संयम के वातावरण में आते ही मन भी स्वस्थ होने लगा, धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ भी हुआ। सेवा व्यवस्था से वे संतुष्ट ही नहीं परम सन्तुष्ट हो गए। अब तो मास खमण, 108 आयम्बिल, एकासन आदि तप भी करने लगे। आयम्बिल के लिए भिक्षार्थ 2/3 किलोमीटर स्वयं घूमते। सन् 1995 के चातुर्मास के पूर्व ही वे काल धर्म को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार एक निराश और हताश व्यक्ति भी योग्य एवं निपुण सहायक के सम्पर्क से समाधि-भाव में स्थित हो सका। निपुण-बुद्धि शास्त्रों के अर्थ-ज्ञाता ऐसे सहयोगियों से जिनका सम्पर्क होता है उनका मंगल ही मंगल होता है।



28. निकेय का विवेक

सुमति चरणकज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार सुज्ञानी।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार सुज्ञानी॥

प्रार्थना की उपर्युक्त पंक्तियों में चैतन्य आत्मा को 'सुज्ञानी' शब्द से संबोधित किया गया है। जब तक आत्मा सुज्ञानी नहीं होगी अर्थात् उसमें विवेक प्रज्ञा जागृत नहीं होगी, वह अपने हिताहित का निर्णय करने में सक्षम नहीं होगी। वैसे कहा जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति और यहाँ तक कि पशु भी हिताहित का विवेक रखते हैं। पशु जगत के प्राणी वर्षा, गर्मी, शीत आदि से सुरक्षा का ध्यान रख कर ही उस प्रकार अपने घोंसले, बिल आदि स्थान बनाते हैं। किसी रूप में पशु-पक्षी आदि अपने हित-बोध की दृष्टि से मनुष्यों से अधिक जागरूक होते हैं– यह हित बोध उन्हें प्रकृति प्रदत्त होता है। पर 'सुसानी' से जहाँ तक ज्ञानी जनों का संबंध है वहाँ यथार्थ हिताहित का संबंध आत्मा से जुड़ा माना जाता है। जिसमें आत्मा का हित निहित हो, वही श्रेय है, श्रेयस्कर है। जिस अवस्था में आत्महित नहीं हो, वह यथार्थ में अहित है। हिताहित का स्वरूप तभी जाना जा सकता है जब हिताहित करने वाले (कर्त्ता) को जान लिया जाय। यदि उसे नहीं जाना गया तो हिताहित का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता और जब आत्मा का परमात्म चरण में समर्पण होता है तब आत्मा व परमात्मा दोनों का स्वरूप जानना होता है। जिसने आत्मा को जान लिया, उसने परमात्मा को जान लिया। कहा भी है– **अप्पा सो परमप्पा** अर्थात् जो आत्मा है, वही परमात्मा है। सिद्ध के स्वरूप और आत्मा के बीच कोई भेद-रेखा नहीं है–

सिद्धां जैसो जीव है, जीव ही सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय॥

प्रत्येक जीव में सिद्धत्व-भाव रहता है। हो सकता है कि वह अभी तिरोहित हो, प्रकट नहीं हो। एक व्यक्ति जिसने घर की समस्त वस्तुओं का ज्ञान कर लिया है वह दुनिया की सम्पूर्ण वस्तुओं को जान सकता है। यदि घर के पदार्थों का ही ज्ञान नहीं है तो वह विश्व को नहीं जान पायेगा। इसी प्रकार समाधि की चर्चा मात्र से समाधि को प्राप्त नहीं हुआ जा सकता। समाधि को प्राप्त होने के लिए अपेक्षित हिताहित, कारण आदि का बोध होना भी आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रभु ने तीन सूत्र बताये हैं– आहार, सहाय और निकेय। आहार का विवेक इसलिए आवश्यक है कि साधना का साधनभूत शरीर आहार से संचालित होता है। आहार सात्विक, तामसिक, राजसिक जैसा भी होगा वैसे ही गुण व भाव पैदा होंगे। सहाय अर्थात् संगति का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़ता है। अब निकेय का विवेक भी जान लें। निकेय अर्थात् स्थान (मकान)। प्रश्न होता है कि जब समाधि का संबंध आत्मा से है फिर स्थान बीच में कहाँ आता है जो उसका विवेक किया जाय? साधक की विवेक प्रज्ञा जहाँ जागृत रहे, वह ही योग्य स्थान है। परन्तु बात बिल्कुल ऐसी नहीं है। इसे एक पौराणिक आख्यान के आधार पर समझने का प्रयास करें। श्रवणकुमार माता-पिता को काँवड़ में लेकर तीर्थाटन हेतु जा रहा था। ज्योंही वह कुरुक्षेत्र में पहुँचा उसमें हीन विचार पैदा होने लगे। उसने काँवड़ उतार दी और कहने लगा– 'आखिर मैं कब तक ढोता रहूँगा? पता नहीं कब तीर्थयात्रा पूरी होगी?' हालाँकि श्रवणकुमार श्रद्धा भाव से माता-पिता की सेवा में तत्पर रहने वाला पुत्र था, पर इन विचारों का कारण वह स्थान था जहाँ वह उस समय पहुँचा था। माता-पिता तुरन्त स्थान का रहस्य समझ गये और बोले– पुत्र, तुम जब इतना उठा लाये हो तो बस अब तो थोड़ा ही क्षेत्र रह गया है हमें थोड़ा आगे और ले चलो। बेमन से भी माता-पिता की आज्ञा मानकर श्रवणकुमार उन्हें थोड़ा और आगे ले गया– तब तक कुप्रभाव का वह क्षेत्र पार हो चुका था। पार होते ही श्रवण कुमार का चिन्तन बदल गया और वह पूर्ववत्

आज्ञाकारी समर्पित पुत्र बन गया। इस प्रकार प्रमाणित होता है कि स्थान का प्रभाव मानस पर पड़ता है। यह बात अलग है कि पूर्ण सजग साधक अप्रभावित भी रह जाये पर थोड़ी-बहुत सफलता ही जिसने प्राप्त की है, उसे साधना के क्षणों में स्थान का ध्यान रखना होगा।

सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि की जो अपेक्षा की गई है। उनमें स्थान शुद्धि भी है। इस प्रकार द्रव्य से पोशाक अनुकूल हो, क्षेत्र से समतल जगह हो जिससे साधक आसानी से बैठकर समभाव की साधना कर ले क्योंकि यदि जगह ऊबड़-खाबड़ है तो वह लम्बे समय तक नहीं बैठ पायेगा; कुछ मिनिटों में ही बेचैनी होने लगेगी। यदि उसके आस-पास गड्ढे हैं और वह बैठ भी गया तो भय बना रहेगा कि कहीं उसे झपकी न आ जाये और वह गिर न पड़े। वे गड्ढे मस्तिष्क में चक्कर काटते रहेंगे। साथ ही वहाँ जीवोत्पत्ति न हो। साँप, बिच्छू का यदि वहाँ उपद्रव है तो वह ध्यान में स्थिर नहीं रह पायेगा। किसी भी वस्तु का स्पर्श हुआ तो वह भय से चौंक जायेगा। काल की अपेक्षा जो समय सामायिक में वर्त रहा है वह काल सामायिक है। भाव से मन अशान्त न हो। प्रसंग है क्षेत्र का, निकेय का, उसमें साधुओं की दृष्टि से कहा गया है कि साधु के स्थान पर विजातीय (स्त्री) का रात्रि और विकाल में प्रवेश निषिद्ध है। शास्त्रों में कहा गया है रात्रि में वह उनसे चर्चा-वार्ता भी न करे। साधु बहिनों से एवं साध्वी भाइयों से यदि विशेष आवश्यक हुआ तो सिर्फ 5 प्रश्न कर सकते हैं पर वे भी ज्ञान चर्चा के नहीं। मात्र जानकारी के लिए मान लीजिये उपाश्रय का द्वार खुला हुआ है, किसी अनजान ने आकर पूछा (1) भीतर कौन है? उत्तर– हम संत हैं (2) किस सम्प्रदाय के हैं? उत्तर– अमुक सम्प्रदाय (नाम) के। (3) कब तक विराजेंगे? उत्तर– जैसा भी विराजने का प्रसंग होगा। (4) कल व्याख्यान होगा? उत्तर– यदि अवसर हुआ तो...। (5) विहार कब करेंगे? उत्तर– यथासमय आदि....। ज्यादा चर्चा-वार्ता नहीं करें। यदि संत के रहने के स्थान

पर कोई भाई भी सेवा में है, या आया हुआ है तो वह संत से पूछकर उक्त जवाब दे दे। संत उत्तर न दें। यदि रात्रि में मंगल पाठ सुनाने को कहें और सिर्फ स्त्रियाँ ही हों तो साधु नहीं सुनायें। यदि भाई भी साथ में हों और वे सुनना चाहते हों तो साथ में बहिनें भी सुन सकती हैं। ये संक्षिप्त प्रश्नोत्तर एवं मंगलपाठ भी उपाश्रय के बाहर खड़े रहकर ही हो सकते हैं। संत-स्थल पर स्त्री एवं साध्वी-स्थल पर पुरुष भीतर प्रवेश करके प्रश्नोत्तर आदि नहीं कर सकता। यदि अन्य चर्चा की जाती है तो निशीथ सूत्र में उसे प्रायश्चित्त का अधिकारी कहा गया है। इन सभी बातों का ज्ञान यदि श्रावक को भी है तो दोनों की समाधि की साधना हो सकती है। साधु की नियम-सुरक्षा में श्रावक सहभागी होता है।

श्रावक को शास्त्रों में माता, पिता और भाई से उपमित किया गया है। नियम जानने पर ही वह सहायक हो सकता है। दिन में भी यदि हजार स्त्रियाँ हों तो भी एक समझदार भाई की साक्षी बिना साधु व्याख्यान नहीं दे सकता या बैठने की इजाजत नहीं दे सकता। समझदार भाई से मतलब है जो आँखों से देखता है, कानों से सुनता है और उनके हाव-भाव समझता है। भिक्षाचर्या के लिए भी साधु यदि गृहस्थ के घर गया हो और वहाँ अकेली बहिन ही घर पर हो तो साधु तत्काल बाहर आ जाये। ये बातें बहुत सूक्ष्म हैं पर प्रभु ने समाधि के इच्छुक के लिए इन्हें आवश्यक कहा है।

समाधिवान् के लिए स्थान कैसा हो? इसके संबंध में कतिपय अन्य बातें भी हैं। एकान्त स्थान सर्वथा वर्जित है क्योंकि कहा है– एकान्त पाप का बाप होता है। रथनेमि के साथ ऐसा ही हुआ था। हालाँकि वह चरम शरीरी जीव था पर एकान्त में राजमती को देखकर भग्न–चित्त हो गया। शास्त्रकारों ने कहा है–

जहा विराला वसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न बम्भयारिस्स खमोनिवासो॥

(उत्तराध्ययन 32।13)

जिस वृक्ष के नीचे बिल्ली हो, वहाँ चूहा सुरक्षित नहीं रह सकता। वह हेकड़ी लगाये भी तो न जाने कब बिल्ली मौसी उसका गच्चा कर जाये। इसीलिए प्रभु महावीर अपने पुत्र, मित्र और आत्मा के समान साधकों को संबोधित करते हुए कहते हैं– हे आत्मीय जनों ! इन स्थानों से बचकर चलो। पुराणों में उल्लेख आता है कि विश्वामित्र जैसे घोर तपस्वी को ज्योंही एकान्त के क्षण मिले, अप्सरा मेनका ने वहाँ पहुँचकर उन्हें च्युत कर दिया। वर्षों का तप और साधना भंग हो गई। समाधि के लिए प्रभु आह्वान कर रहे हैं **निकेय मिच्छेज्ज विवेगजोग्गं** जिस मकान में समाधि रह सकती हो तथा जहाँ विवेक लुप्त न हो, उस स्थान पर रहें। इतना ही नहीं, शास्त्रकारों ने इस स्थिति को अत्यंत गंभीरता से समझा था। गुरु के चरणों में शिष्य उपस्थित हुआ, पूछा– गुरुदेव ! स्त्री, पशु और नपुंसक-युक्त मकान में तो नहीं रहना है पर यदि गृहस्थ के मकान में स्त्री नहीं हो और वे नये मकान में रह रहे हों पर गृहस्थी का सामान पड़ा हो और स्त्रियाँ सामान लेने आती रहती हों, वहाँ तो रह सकते हैं ? गुरु ने उत्तर दिया– वत्स ! वहाँ रुकने की मनाई है। मकान में असमय आवागमन होते रहने से समाधि में व्यवधान होगा। शिष्य ने पुनः प्रश्न किया– गुरुदेव! यदि आवागमन का मार्ग घुमावदार होने के कारण उस मकान से ही आना-जाना करे तो ? उसे उत्तर मिला– कभी भाई रहे या ना रहे, बार-बार स्त्रियों का आवागमन होने से साधक की समाधि स्थिर नहीं रह पायेगी। समवायांग सूत्र में 18 स्थान कहे गये हैं और भाव-शुद्धि का दूसरा भेद कि जहाँ क्लेश नहीं हो, वह स्थान योग्य है। गृहस्थ के घर में यदि साधु रहता है तो परिवार में उतार-चढ़ाव आने पर अथवा पिता-पुत्र, माता-पुत्री, सास-बहू में क्लेश हो जाने पर वे साधु से कहेंगे, मेरे झगड़े का निपटारा कर दो, कौन सत्य है? न्याय कर दो। बतलाया जाता है कि दशरथनंदन, मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब वनवास में थे तो एक दिन सीता और लक्ष्मण में कुछ बहस हो गई, यानी बात ही बात में कोई प्रसंग छिड़ गया।

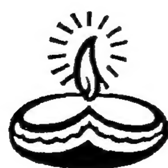
सीता ने कहा पौष में ठंड अधिक पड़ती है और लक्ष्मण कहते थे कि माघ में अधिक पड़ती है। दोनों एक-दूसरे की बात मानने को तैयार नहीं थे। निर्णय के लिए राम के पास पहुँचे। बात सुनकर राम विचारमग्न हो गए, यदि कहता हूँ पौष में अधिक पड़ती है तो लक्ष्मण सोचेगा आखिर भैया ने भाभी का ही पक्ष लिया, और लक्ष्मण की बात को ठीक कहूँ तो सीता कहेगी आखिर भाई का ही पक्ष लिया, मैं तो पराये घर की ठहरी, और उस वहम का निराकरण नहीं हो सकेगा, क्लेश की स्थिति निर्मित होगी। अतः मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने चतुराई से उत्तर दिया–

ना सी पोखे, ना सी माघे, फागणिए सी चौगुणो, जे वर्जति वाए॥

अर्थात् ठंड न पौष माह में होती है, न माघ माह में किन्तु यदि वायु चलने लग जाय तो फाल्गुन माह में चौगुनी ठंड पड़ने लगती है। खैर, उन्होंने तो अपनी प्रज्ञा से उनका समाधान कर दिया पर साधु यदि गृहस्थी की इन छोटी-छोटी बातों का ही निर्णय करता रहेगा तो घर वाले सोचेंगे साधु की इससे पटती होगी इसलिए इसका पक्ष लिया, साधु पर शंका होगी। ऐसे क्लेशमय वातावरण में रुकना उचित नहीं होगा। जहाँ भाइयों में उस मकान को लेकर विवाद चल रहा है, तो वहाँ भी टाला करें। साधु निकेय के विषय में विवेक बरतेगा तो उसकी ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना भली-भाँति हो पायेगी नहीं तो व्यवधान पैदा होगा। कषाय का उद्रेक हो गया तो चारित्र में ह्रास की स्थिति बनेगी।

कल्पसूत्र एवं वृहत्कल्प सूत्र आदि में साधु की निकेय विषयक मर्यादाओं की चर्चा है। यदि 13 बोल की योगवाई युक्त क्षेत्र हो तो वहाँ चातुर्मास करे। जिस मकान की छत नीची हो अर्थात् कान तक हो वहाँ 1/2 दिन भले रह जाय पर चातुर्मास नहीं करे। यदि उठने आदि के प्रसंग में सिर में चोट लग गई तो दर्द की स्थिति में समाधि में न्यूनता होगी। कहा भी है– 'पहला सुख निरोगी काया', काया स्वस्थ नहीं तो समाधि में व्यवधान होगा। दोनों

हाथ सिर से ऊपर उठाकर जोड़े जायें इतनी ऊंचाई हो तो उसकी समाधि बरकरार रहेगी। धर्म साधना के लिए शांत स्थान होगा तो साधना अन्तर्मुखी होगी। विरले साधक ही शोरगुल में स्थिर रह सकते हैं। एक प्रसंग है– प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान साधना में थे। श्रेणिक की सवारी निकली। दो व्यक्तियों के शब्दों से मुनि के विचारों में काल्पनिक युद्ध प्रारंभ हो गया, यद्यपि बाह्य दृष्टि से कोई तीर-कमान या युद्ध सामग्री नहीं थी किन्तु भीतर ही भीतर कल्पना के शस्त्र तैयार हो गए। आप घर पर धर्म आराधना कर लेते हैं पर जहाँ पारिवारिक वातावरण में बच्चों के झगड़े गृहक्लेश की स्थिति बनती हो वहाँ आपकी साधना शुद्ध कैसे रह पाएगी? धर्म स्थान का शांत वातावरण आपकी समाधि को अविचल रख सकता है इसीलिए संत आपसे धर्म स्थान में साधना का आग्रह करते हैं। द्रव्य क्षेत्र भाव के साथ काल की भी शुद्धि **काले कालं समायरे** का ध्यान रखते हुए अपनी समीक्षण प्रज्ञा और विवेक प्रज्ञा को जागृत रखकर साधना में दत्तचित्त बनें। आहार, सहाय और निकेय के इन सूत्रों की अनुप्रेक्षा करें। यद्यपि अन्य सूत्र भी समाधि के संदर्भ में सहायक हैं तथापि इस गाथा के द्वारा जो संकेतित हैं और इसमें जो सूत्र गर्भित हैं उन पर आचरण करते हुए समाधि भाव को प्राप्त करें तो मंगलमय अवस्था प्राप्त हो पाएगी।



श्री राम उवाच

के अन्य भाग